समता कथा माला पुष्पांक-10

अंगुली से उपजा उजाला

आचार्यश्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ **समता कथा माला पुष्पांक-*10***

❖ **अंगुली से उपजा उजाला**

❖ **आचार्य श्री नानेश**

❖ **प्रथम संस्करण : सितम्बर, *2010, 3100* प्रतियाँ**
द्वितीय संस्करण : जुलाई, *2012, 1100* प्रतियाँ
❖ **मूल्य : *10/-***

❖ **अर्थ-सहयोगी :**
श्रीमती जेठीदेवी, विमलादेवी-कमलजी सिपाणी
उदयरामसर (राज.)/बैंगलोर

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग,
श्री जैन पी.जी.कॉलेज के सामने, नोखा रोड़,
बीकानेर- *334401*(राज.)
दूरभाष: *0151-2270261, 3292177, 0151-2270359 (Fax)*
visit us : www.shriabsjainsangh.com
e-mail : absjsbkn@yahoo.co.in

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : *9314962475*

प्रकाशकीय

महिमा मण्डित स्व. आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के रतलाम चातुर्मास में सन् 1988 में उन्हीं के तत्वावधान में जैन सिद्धांत विश्वकोष का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ। उसी के कथा खण्ड में अनेक कथाओं का भी संयोजन हुआ है। कुछ तकनीकी स्थितियों से उक्त कोष का प्रकाशन कार्य अब तक संभव नहीं हो पाया। कथा से आबाल वृद्ध को सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है। हर वर्ग उसे रूचि से पढ़ता है। इसलिए कोष में संयोजित कथाओं के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इस लेखन- सम्पादन में श्री शांतिलालजी मेहता कुम्भागढ़, चित्तौड़गढ़ के अथक परिश्रम को भी नहीं भुलाया जा सकता।

उपरोक्त पुस्तक समता कथा माला पुष्पांक-10 **अंगुली से उपजा उजाला** के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत है। इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रहे है।

इस पुस्तक के प्रथम व द्वितीय दोनों संस्करणों के मुद्रण में अर्थ सहयोगी के रूप में श्रीमती जेठीदेवी, विमलादेवी-कमलजी सिपाणी, उदयरामसर (राज.) बैंगलौर ने जो सहयोग प्रदान किया है। उसके लिये संघ आपका आभारी है।

राजमल चौरडिया
संयोजक - साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अर्थ सहयोगी

व्यक्ति का कार्य उसके नाम को विस्तार देता है। कार्य कौशलता आती है विरासत से मिलें संस्कारों से या स्वपौरूषता से। इस उल्लेखनीय व्यक्तित्व के निर्माण में दोनों पहलुओं की उपयोगिता रही है। स्वनाम धन्य हसमुख व्यक्तित्व के धनी शासननिष्ठ, उदारमना श्री कमलजी सिपाणी ने राजस्थान की परिवर्तन स्थली उदयरामसर में समता मनीषी, उदारमना, दानवीर, आदर्श सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपाणी एवं आदर्श श्रमणोपासिका श्रीमती जेठीदेवी सिपाणी के घर-आंगन में जन्म लेकर अपने कुल का नाम रोशन किया। आपके दादासा सेठ श्री भैरूदानजी एवं दादाजी श्रीमती धन्नीदेवी सिपाणी का नाम इस उज्ज्वल कुल परपम्रा में प्रमुख रूप से लिया जाता है। आपके माताजी-पिताजी ने आपको सुसंस्कारों का ऐसा खजाना प्रदान किया जिसके फलस्वरूप आप सफलता के उच्चे पायदान पर आरोहित है।

फूलों में कमल अपनी एक विशिष्ट महत्ता रखता है। इसलिए भारत सरकार ने राष्ट्रीय फूल के रूप में कमल को महत्त्वता प्रदान की है। जिस प्रकार कमल अपने आपको निर्लिप्त अवस्था में रखता है उसी प्रकार आप संघ की प्रत्येक प्रवृत्ति में मुक्तहस्त दान से देते हुए भी स्वयं को नाम एवं सम्मान को कोसों दूर रखते है। आपके पिताजी स्व. श्री सोहनलालजी सिपाणी श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ के अग्रगण्य सुश्रावक रत्न थे। आपकी आदर्श सेवाओं को देखते हुए संघ द्वारा आपको आचार्य श्री नानेश समता पुरस्कार प्रदान किया गया था। सम्पूर्ण दक्षिण भारत को आपने एक सूत्र में पिरोकर संघ सेवा के कार्यो को गति प्रदान की। आप ही के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए श्री कमलजी सिपाणी संघ सेवा में निरन्तर संलग्न है।

आपकी कार्य कौशलता ने कई संस्थाओं से आपको जोड़ रखा है जीवदया, स्वधर्मी सहयोग, चिकित्सा सेवा, छात्रवृत्ति आदि अनेक सामाजिक सेवाओं के साथ-साथ आप साहित्य मुद्रण, सत् साहित्य प्रचार, समता जन कल्याण प्रन्यास, आचार्य श्री नानेश ध्यान केन्द्र, धर्मपाल प्रचार-प्रसार, नानेश निकेतन, नवीन केन्द्रीय कार्यालय

निर्माण आदि में मुक्तहस्त से दान देकर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते हुए अनंत पुण्यवानी का अर्जन कर रहे हैं। आपकी उत्कृष्ट संघ सेवाओं को देखते हुए संघ ने समय-समय पर आपको अनेक पदों पर अभिषिक्त किया। वर्तमान में आप श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन समता युवा संघ के संरक्षक एवं धर्मपाल प्रचार-प्रसार प्रवृत्ति के राष्ट्रीय संयोजक के रूप में अपनी सेवाएं प्रदान कर चुके हैं। धर्मपाल क्षेत्र में आपके प्रयासों से जो जागृति उत्पन्न हुई है व अद्वितीय है।

नाम एवं पद की चाह से कोसों दूर श्री सिपाणीजी समता विभूति, समीक्षण-ध्यान योगी आचार्य प्रवर 1008 श्री नानालालजी म. सा. एवं वर्तमान आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. के अनन्य श्रद्धानिष्ठ सुश्रावकों में से एक है। आपकी अनुपम गुरुभक्ति निश्चित रूप से प्रेरणीय एवं प्रशंसनीय है। आपका शुभ विवाह भीनासर के गौरवशाली सेठिया परिवार में आदर्श सुश्रावक स्व. श्री बालचंदजी-श्रीमती भंवरीदेवी सेठिया की सुपुत्री विमलादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। अपने नाम एवं धर्मपत्नी पद को सार्थक करते हुए उनके प्रत्येक कार्य में कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग प्रदान कर रही हैं। श्रीमती विमलादेवी एक आदर्श ग्रहणी है, तप-त्याग अनुरक्त रहते हुए आप प्रतिदिन सामायिक, स्वाध्याय में निरत रहती है। आप अनेक धार्मिक सूत्रों एवं थोकड़ों की जानकार है।

श्री कमलजी सिपाणी के संस्कारित परिवार में आपकी मातुश्री जेठीदेवी सिपाणी, भ्राता श्री सुन्दरलालजी, राजकुमारजी, विमलजी, पुत्री एवं दामाद श्रीमती कविता-यशवंतजी बोथरा-जयपुर, श्रीमती काजल-संजयजी सांखला-मुंबई, श्रीमती पूजा-चंदनजी बोहरा-पिपल्याकलां, सुश्री एकता एवं अभिषेक सिपाणी संस्कारित जीवन के धनी है। आपके परिवार द्वारा अनेक स्थानों पर समता भवन निर्माण आदि में सहयोग दिया गया है। बैंगलोर में भी आपके परिवार द्वारा निर्मित सिपाणी भवन एक आदर्श संस्कार स्थली है। सिपाणी परिवार देवगुरु एंव धर्म की अद्‌भुत सेवा कर रहा है। आशा ही नहीं वरन् विश्वास है कि आगे भी इसी प्रकार से आप इस दिशा में निरन्तर संलग्न रहेंगे।

अनुक्रमणिका

अभागा अभग्गसेन	:	7
भोग इतना, योग इतना!	:	14
अहो दाणं, अहो दाणं!	:	22
अंगुली से उपजा उजाला	:	29
देवता ने जो पीछा पकड़ा	:	36
माँ के आशीर्वाद के लिए	:	45
कंधे पर गुरु : माथे पर डंडा	:	53
चार पुतलियों वाला पलंग	:	61
नंगी तलवार के नीचे	:	74
सारा शरीर सन गया, पर.....	:	85
चन्द्रमा का स्वप्न	:	94

अभागा अभग्गसेन

सुनो, सुनो, सब जन सुनो ! यह अग्गसेन चोर है। इस पर राजा का कोई कोप नहीं है, बल्कि यह अपने द्वारा किए गए पाप कर्मों का फल भोग रहा है।

यह घोषणा पुरितमाल नगर में की जा रही थी। एक व्यक्ति जंजीरों से बंधा हुआ था और राजपुरुष उस पर लगातार कोड़ों के प्रहार कर रहे थे। इतना ही नहीं, उसके साथ उसके चाचा, चाची वगैरह को भी ले रखा था तथा उसके शरीर से माँस काट-काट कर उसे खिलाया जा रहा था। वह उससे बहुत कष्ट पाता था, परन्तु उसका खून भी उसे पिलाया जा रहा था। उसको इस तरह कष्टित कियसा जा रहा था, जैसे वह किस नरक का नैरेयिक हो और उसे उसी तरह से सन्तप्त किया जा रहा हो। दर्शकों को वह दृश्य अतीव भयावह लग रहा था। उस दृश्य को भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम स्वामी ने भी देखा।

वह अभागा अभग्गसेन चोर था। पुरितमाल नगर में महाबल नामका राजा राज्य करता था। उस नगर के ईशान कोण में शाला नाम की अटवी में चोरपल्ली थी। वह चोरपल्ली सुदृढ़ कोट आदि से घिरी होकर बहुत ही सुरक्षित थी। उसके कई गुप्त मार्ग भी थे, जहाँ से हाकर चोर आते-जाते, चोरियाँ करते और पकड़े नहीं जाते। उस चोरपल्ली में पाँच सौ चोर रहते थे। उनका नायक विजय नामक सेनापति था जो अति क्रूर एवं पापिष्ठ था। उसकी पत्नी का नाम स्कन्दश्री था। अभग्गसेन इन्हीं का पुत्र था।

गौतम स्वामी भिक्षा लेकर अपने स्थान पर पहुँचे और भगवान महावीर की सेवा में उन्होंने निवेदन किया-भगवान, अभी मुझे एक ऐसा व्यक्ति दिखाई दिया जो राजपुरुषों के हाथों नैरेयिक जैसा कष्ट पा रहा था। आप कृपा कर बताएँ कि उसने ऐसे कौनसे पाप कर्म किए जिनका उसे कुफल भोगना पड़ रहा था ?

गौतम, वह अभग्गसेन चोर था, जो अपने पूर्वभव में इस पुरितमाल नगर में एक अण्ड वणिक के रूप में था, जिसका नाम था निर्णय। वह महाअधर्मी था और कबूतर मुर्गी, टिंटोडी, कौए आदि अनेक पक्षियों के अण्डों का व्यापार करता था। इतना ही नहीं, वह अण्डों को तेल में तलता, नाना तरह के मसाले डालता तथा

उन्हें स्वादपूर्ण बनाकर बेचता था। इसी व्यापार से वह अर्थोपार्जन करता था। वह इन अण्डों को बेचता भी था और स्वयं भी उसका स्वाद ले लेकर खाता था। इस प्रकार उसने घोर पाप कर्मों का बंध किया, जिनके परिणास्वरूप वह वहाँ से मर कर तीसरी नरक में उत्पन्न हुआ- भगवान महावीर ने उसके पूर्वभव के दुष्कृत्यों पर प्रकाश डालते हुए वर्तमान भव के सम्बन्ध में वर्णन किया-तीसरी नरक से निकल कर वही जीव विजय सेनापति की पत्नी स्कन्द श्री के गर्भ में स्थित हुआ।

पाप कर्मों में रंग जाने पर वैसे ही संस्कार निर्मित हो जाते हैं तथा कर्मबंध के साथ वे स्थायित्व पा लेते हैं। उस अंड वणिक् के कुसंसकार अभग्गसेन के गर्भ में रहते हुए भी प्रकट होने लगे। गर्भ के तीसरे माह में स्कन्द श्री को दोहला उत्पन्न हुआ कि वह स्वयं भी मदिरा पान तथा माँस भक्षण करे एवं पुरुष वेष को धाारण कर लोह कवच सहित भ्रमण करे। विजय भी क्रूर कर्मी ही था, उसने अपने पत्नी को दोहला पूरा करायाँ गर्भकाल पूर्ण होने पर स्कन्दश्री ने जिस पुत्र को जन्म दिया, उसी का उन्होंने नामकरण किया-अभग्गसेन।

अभग्गसेन अभागा था। अभागा का अर्थ होता है भाग्यहीन अर्थात् सौभाग्य से रहित। जो अपने जीवन

में महान् हिंसक, क्रूर और पापिष्ठ होता है, वह दुर्भागा या अभागा ही होता है। अण्ड वणिक् के भव में इस जीव ने अण्ड-व्यापार के रूप में जो अधार्मिकता की, उससे उसका भाग्य ही अस्त हो गया-यहा कहा जा सकता है। फिर इस अभागे अभग्गसेन ने वर्तमान भव में भी अपने अभागेपन को बढ़ाया ही।

विजय सेनापति ने अपने पुत्र के युवा होने पर उसका आठ चोर कन्याओं के साथ विवाह किया। उसने अपनी पुत्र वधुओं को आठ करोड़ सोनैयाँ दी। अभग्गसेन आठों पत्नियों के साथ विपुल काम भोग भोगता हुआ अत्यन्त निर्दयता के कार्य भी करने लगा। एक तो यौवन की उन्मत्तता, दूसरे दुष्ट शक्ति का संचय तथा अतीव सम्पति, वह मदमस्त हाथी के समान व्यवहार करने लगा। वह बस्तियों में जाकर लोगों को दु:ख देता, बस्तियाँ उजाड़ देता व जला देता एवं इस प्रकार के क्रूर कर्मों में प्रसन्नता का अनुभव करता।

अभग्गसेन के हिंसक उत्पातों से प्रजा में त्राहि-त्राहि होने लगी और जनता ने राजा महाबल से सारा वृत्तान्त निवेदित किया। राजा विजय सेनापति एवं उसके पुत्र अभग्गसेन के इन अत्याचारों का वर्णन सुनकर अत्यधिक क्रुद्ध हुआ तथा उसने तुरन्त अपने दण्ड सेनापतियों को बुलाकर आज्ञा दी-तुम्हें जितने बल की आवश्यकता हो, उससे भी सुभटों एवं सैनिकों को

ले जाकर शाला अटवी में स्थित चोरपल्ली पर आक्रमण कर दो, उसके नायकों और चोरों को पकड़ लो तथा उस पल्ली को नष्ट कर दो।

राजा ने आज्ञा पाकर दण्ड सेनापतियों ने सदल बल जाकर चोर पल्ली पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह चोरों का बहुत ही मजबूत गढ़ था। सैनिकों और चोरों के बीच जमकर युद्ध हुआ जिसमें चोरों की ताकत भारी पड़ी तथा सैनिकों को पीछे भागना पड़ा। दण्ड सेनापतियों ने राजा को बताया-महाराज, चोरपल्ली एक शक्तिशाली गढ़ के रूप में खड़ी हो गई है और चोरों के नायक विजय तथा अभग्गसेन भी अतीव दुस्साहसी हैं। उनके पास अच्छे आयुधों का भण्डार भी जमा है-ऐसा हमने अनुभव कियाँ यह भी पता चला है कि उन्होंने कई गुप्त मार्ग भी बना रखे हैं। इन कारणों से उन पर युद्ध करके विजय पाना कठिन दिखाई देता है।

यह सुनकर महाबल चिन्तित हुआ कि उसके राज्य में चोरों ने इतनी शक्ति बढ़ा ली है, जो उसकी सेना के सामने भी अजेय बन गए हैं। वह बोला-सेनापतियों, यह तो राज्य की प्रजा की सुरक्षा के लिए अतीव गम्भीर स्थिति है, इससे तो किसी भी प्रकार से पार पाना ही चाहिए। आप ही कोई उपाय सोचकर बताइए जिससे समय रहते उन पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

राजन्! जब कोई कार्य बल से सिद्ध नहीं हो रहा हो तो उसमें जनहित की दृष्टि से छल का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। हम अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा प्रयास करते हैं कि चारों में आपके प्रति विश्वास उत्पन्न हो, फिर यथावसर आप सारी चोरपल्ली को भोजन पर निमंत्रित करें। तब हम ऐसी व्यवस्था करें कि उन्हें बलपूर्वक अनजाने में पकड़ लिया जाए और दंडित किया जाए।

तुम लोगों को जैसा उचित लगे, वैसा करो, किन्तु कोई न कोई कार्यक्षम उपाय अवश्य करो एवं यथासाध्य शीघ्र करो-राजा महाबल ने अपना अभिप्राय स्पष्ट किया।

योजनानुसार कुछ समय पश्चात् एक राजकीय महोत्सव के आयोजन की घोषणा कराई गई तथा उसमें अभग्गसेन आदि चोरों को भी निमंत्रण दिया गया। इस निमंत्रण को चोरों ने अपने वर्चस्व की विजय के रूप में लिया और यथासमय अपने नायकों सहित सभी चोर राजकीय भोज में सम्मिलित हुए। राजा ने सबका यथोचित सम्मान किया और उन्हें कूटागार में शाला ठहराया गया।

वहाँ उनके लिए विपुल भोजन-पान की व्यवस्था की गई-स्वादिष्ट मदिरा भी उनके लिए उपलब्ध कराई गई। चोरों के कुसंस्कार उनके साथ थे, उन्होंने छककर

मदिरा सेवन किया और आहार आदि से तृप्ति प्राप्त की। फिर सभी चोर उन्मत्त दशा को प्राप्त कर शिथिल होते हुए निद्राधीन हो गए।

उस समय में उपयुक्त अवसर जान दण्ड सेनापतियों ने कूटागार शाला में जाकर राजाज्ञा के अनुसार अभग्गसेन को जंजीरों में जकड़ राजा के सामने प्रस्तुत किया तथा शेष चोरों को शाला के सभी द्वार बन्द करवा कर भीतर ही रहने दिया।

भगवान महावीर ने फरमाया–हे गौतम, उसके बाद अभग्गसेन की जो दुर्दशा की गई वह तुमने देखी ही है। राजा ने उसके दुष्कर्मों के लिए इस प्रकार का दण्ड दिया है और अब तीसरे प्रहर में उसे शूली पर चढ़ाया जाएगा। यहाँ मृत्यु प्राप्त कर यह अभागा जीव कई भवों में दुःख पाता हुआ, वाराणसी में एक श्रेष्ठि पुत्र होगा जहाँ यौवन वय में प्रबुद्ध एवं विरागी होकर दीक्षा लेगा, देवलोक पाएगा, फिर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष पाएगा।

स्त्रोत–विपाक सूत्र, दुःख विपाक।

सार–पाप कार्यों से प्रारम्भ में ही सावधान हो जाना चाहिए।

❖ ❖ ❖

भोग इतना, योग इतना!

देखो, मेरे पास अपार ऋद्धि एवं सम्पत्ति है और मेरे ये इकलौता पुत्र हुआ है। इसका लालन-पालन इतना वैभवपूर्ण होना चाहिए कि उसका कहीं दूसरा उदाहरण न मिल सके। याद रहे कि यह सुन्दर स्वरूपवान और मनमोहक पुत्र मुझ भद्रा सेठानी का है-एक असामान्य स्त्री का-यह आदेश और निर्देश दिया भद्रा सेठानी ने अपने सेवकों और दासियों को कि उसके पुत्र की सार-संभाल असाधारण रीति से की जाए।

राजा जितशत्रु द्वारा शासित काकंटी नगरी में भद्रा सेठानी रहती थी और वह वहाँ की सर्वाधिक ऋद्धिशालिनी सार्थवाही थी। उसने अपने नवजात पुत्र का नाम धन्ना रखा था और वह चाहती थी कि अत्यन्त सुखमय परिस्थितियों में उसका यह पुत्र पले-पोसे और बड़ा हो। उसे किसी भी रूप में दु:ख का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होना चाहिए।

बालक धन्ना की सार-संभाल के लिए पाँच धायमाताएँ नियुक्त की गई-दूध पिलाने वाली, स्नान-मंजन कराने वाली, आभूषण पहनाने वाली, गोद में खिलाने वाली एवं क्रीड़ा कराने वाली। उसके पालन पोषण में सम्पूर्णतया बहुमूल्य सामग्री का ही उपयोग किया जाता था।

आयु वृद्धि के साथ धन्ना ने बहत्तर कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया एवं सभी प्रकार से शिक्षित तथा संस्कारित बना। युवावस्था आ जाने पर भद्रा सेठानी ने अपने सुदर्शनीय एवं सुसंस्कारित पुत्र का विवाह एक ही दिन में वैभवशाली बत्तीस सेठों की बत्तीस सुन्दर कन्याओं के साथ भारी धूमधाम से कर दिया। उसने अपनी बत्तीस ही पुत्र-वधुओं के निवास हेतु चारों ओर बहुमंजिली हवेलियाँ बनाई तथा उन बत्तीस हवेलियों के मध्य में अपने धन्ना के निवास हेतु एक विशाल महल का निर्माण कराया। सभी महल अति विशिष्ट साज-सामग्री से सज्जित किए गए।

इस प्रकार धन्ना उस विपुल एवं अतुलनीय सुख-सुविधाओं के बीच परम सुख एवं आनन्द से रहने लगा। उसे देखकर कोई भी विस्मित हुए बिना नहीं रहता तथा उसके मुख से बरबस ही निकल पड़ता-इतना भोग! कितना सौभाग्यशाली है यह धन्ना!

वहीं धन्ना भगवान महावीर स्वामी के वहाँ

पधारने पर उनके दर्शन, वन्दन एवं उपदेश श्रवण हेतु उनकी सेवा में पहुँचा और उनका धर्मोपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया। इतने आनन्द भोग में रहते हुए उसे संसार के दु:खों का भान हुआ और उसने अपनी आत्मा को दु:ख क्षेत्र से बाहर निकाल कर संयम सुख का आस्वादन करने के लिए उसी समय दीक्षा अंगीकार कर ली।

मुनि धन्ना ने संयम क्या स्वीकार किया कि कठोरतम साधना का द्वार ही खोल लिया। जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन उन्होंने यह कठिन अभिग्रह धारण किया कि जीवन पर्यन्त बेले-बेले पारणा (दो-दो दिन की तपस्या व एक दिन आहार करना) करुँगा, पारणे में भी आयम्बिल (अति रूक्ष आहार लेना) करुँगा तथा उसमें मेरे द्वारा लिया जाने वाला रूक्ष आहार भी ऐसा होगा जिस पर घृत आदि किसी स्निग्ध पदार्थ का लेप न लगा हुआ हो, घर वालों के भोजन कर लेने के पश्चात् बचा हुआ बाहर फैंकने योग्य हो एवं वैसे आहार की बाबा सन्यासी या भिखारी तक वांछा न करते हों। मुनि धन्ना ने यह व्रत ले लिया कि वे ऐसे ही तुच्छ आहार की गवैषणा करते हुए विचरण करेंगे-पारणे के दिन वैसा आहार मिलेगा तो ले लेंगे, अन्यथा उस दिन भी तप रख लेंगे। इस प्रकार महा दुष्कर तपस्या करते हुए मुनि धन्ना विचरण करने लगे।

वस्तुतः इतना तुच्छ आहार मिलना भी कठिन होता है–कौन रखे ऐसा आहार और कौन उसे मुनि के पात्र में भिक्षा रूप से बेहरावे? तदनुसार कभी आहार मिल जाता तो पानी नहीं मिलता, पानी मिल जाता तो आहार नहीं मिलता। किन्तु जो भी मिल जाता अथवा न मिलता, उसका आकुलता–व्याकुलता या उदासीनता के रूप में मुनि धन्ना के चित्त पर तनिक भी असर नहीं पड़ता। वे तो समभाव के साथ सदा सन्तुष्ट ही दिखाई पड़ते–कभी भी उनके मन में दीन भाव नहीं आता। सम एवं अदीन भाव से वे संयम साधना में निमग्न रहते।

उनके स्वाद जय का भी एक अति आदर्श रूप निखर आया। जैसे एक सर्प अपने शरीर के कहीं रगड़ लग जाने के भय से बिल में सीधा प्रवेश करता है, उसी प्रकार धन्ना मुनि भी आहार करते समय स्वाद न लेने की दृष्टि से कवल को मुँह में इधर–उधर न हिलाते हुए एक तरफ से ही चबाकर सीधा गले के नीचे उतार लेते थे।

मुनि धन्ना का तपश्चरण इस रूप में अत्युत्कृष्ट एवं आदरणीय बन गया। जिन्होंने उनका भोग देखा था, वे विस्मय के साथ कहा करते थे–इतना भोग? और जो अब उनका महा दुष्कर तपश्चरण देख रहे थे वे तो परम आश्चर्य से विमुग्ध होकर कह रहे थे–इतना योग!

वह योग उनके भोग से भी कई गुना श्लाघनीय था।

ऐसी उत्कट तपस्या के कारण धन्ना मुनि की काया अतीव कृश हो गई-इतनी कृश कि उसे हड्डियों के ढांचे मात्र से कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता था। उनके पैर, पैरों की अंगुलियाँ, घुटने, कमर, छाती, हाथ, हाथ की अंगुलियाँ, गर्दन, नाक, कान आँख आदि शरीर का प्रत्येक अवयव शुष्क हो गया-हड्डियाँ मात्र ही रह गई। जिस प्रकार कोयलों से भरी हुई गाड़ी के चलने से शब्द होता है, उसी प्रकार उनके चलते समय-उठते बैठते समय उनके शरीर की हड्डियाँ करड़-करड़ शब्द करने लगी। शरीर इतना सूख गया और उसे देखकर ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे उठते-बैठते, चलते-फिरते, बोलते या अन्य क्रियाएँ करते समय उन्हें खेद हो रहा हो।

इस प्रकार धन्ना मुनि का शरीर सूख कर कांटा हो गया, किन्तु वह आत्मिक तेज से सूर्य के समान प्रदीप्त दिखाई देने लगा। शरीर की कृशता उनकी आत्मा की परिपूर्णता में समा गई। उनका तेजस्वी स्वरूप प्रखर हो उठा।

भगवान महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए राजगृही नगरी में पधारे। उनके साथ गणधरों एवं वरिष्ठ श्रमणों के सिवाय धन्ना मुनि भी थे। भगवान के पदार्पण का संवाद पाकर राजा श्रेणिक उनके दर्शन-वन्दन को

आया। सेवा में बैठकर उसने प्रश्न किया-भगवन्, आपके पास इन्द्रभूति आदि गणधरों एवं वरिष्ठ सन्तों के सिवाय अन्य भी कई श्रमण हैं, उनमें कौनसा श्रमण ऐसा हैं, जिसने महादुष्कर किया है तथा जो महानिर्जरा को करने वाला है?

श्रेणिक, इन सभी श्रमणों में धन्ना मुनि ने महादुष्कर तप किया है तथा वही महानिर्जरा करने वाला है-भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया।

उसे सुनकर श्रेणिक राजा अतीव हर्षित हुआ तथा धन्ना मुनि के समीप पहुँचा। उसने उन्हें भावपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया तथा सराहना के स्वर में निवेदन किया-हे देवानुप्रिय, आप पुण्यवान है, आप कृतार्थ हैं तथा आपने मनुष्य जन्म की प्राप्ति का वास्तविक फल पाया है, आप धन्य हैं। आप ऐसी महादुष्कर क्रिया करने वाले हैं। आपका जन्म और जीवन सफल है।

निर्लिप्त मुनि धन्ना महाराज श्रेणिक को शान्त भाव से देखते रहे।

महादुष्कर के कर्त्ता एवं महानिर्जरा के स्वामी धन्ना मुनि एक दिन प्रातः भगवान की सेवा में उपस्थित हुए। करबद्ध हो उन्होंने प्रार्थना की-भगवन्, विगत अर्द्धरात्रि के समय धर्म-जागरणा करते हुए मुझे ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है कि तपस्या से मेरा शरीर सूख

चुका है एवं अब उसके द्वारा अधिक तपस्या सम्भव नहीं लगती है, अतः आज्ञा हो तो मैं संलेखना-संथारा स्वीकार करूँ?

भगवान तो महानिर्जरा की सम्पन्नता के ज्ञाता थे, बोले-तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो।

भगवान से आज्ञा प्राप्त कर धन्ना मुनि कड़ाई स्थविरों (संथारे में सहायता देने वाले साधुओं) के साथ विपुलगिरि पर पहुँचे एवं स्थविरों की साक्षी से संलेखना-संथारे का उन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया। एक माह तक संथारा चला और उस काल में मुनि धन्ना का अमिट तेज अवर्णनीय था। तदनन्तर मुनि धन्ना समाधि मरण को प्राप्त हुए।

मुनि धन्ना ने संसार के सुखदतम भोग भोगने के पश्चात् मात्र नौ माह तक दुष्करम संयम का पालन किया एवं एक माह तक संलेखना का अनुपालन किया। इस अल्पकाल में ही उन्होंने अपने पूर्वोपार्जित अधि कांशतः कर्मों का क्षय करके महानिर्जरा प्राप्त कर ली अर्थात् सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त कर लिया। फिर एक भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

उनके विषय में अति आश्चर्य के साथ यही कहना पड़ता है कि विपुल योग साधा तो इतना-किसी की कोई सीमा नहीं। ऐसी ही होती है महान् आत्मा, जो

महान पुरुषार्थ का परिचय देती है तथा भव्य आत्माओं को उच्चतम विकास का मार्ग दिखाती है।

धन्ना मुनि के काल करने पर कड़ाई स्थविरों ने काडसग्ग किया और उनके भंडोपकरण लेकर भगवान की सेवा में उपस्थित हुए।

स्त्रोत-अनुत्तरोपपातिक सूत्र।

सार-जो कर्म में शूर होते हैं, वे धर्म में भी शूर होते हैं।

❖ ❖ ❖

अहो दाणं, अहो दाणं!

महाराज, जागिए, मैंने एक विशिष्ट स्वप्न देखा है–धारिणी रानी ने अपने पति राजा अदीनशत्रु को अर्द्ध रात्रि में जगाया।

इसी अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में हस्तिशीर्ष नामक नगर था, जो सर्वतः सुन्दर था तथा वहाँ के निवासी सर्वथा सुखी और सम्पन्न थे। हस्तिशीर्ष का ही राजा अदीनशत्रु था, जो राज लक्षणों एवं गुणों से युक्त था तथा जिसके न्यायपूर्ण शासन के कारण ही राज्य में सब ओर सुख शान्ति थी। राजा के 999 अथ रानियाँ भी थीं।

प्रिये, तुमने ऐसा क्या स्वप्न देखा है? अदीनशत्रु ने प्रेमपूर्वक पूछा।

आर्य, जब मैं अपनी सुख शय्या पर सोई हुई थी तो न मैं गाढ़ निद्रा में थी और न ही जागृतावस्था में। तब मैंने स्वप्न में एक सिंह देखा।

यह तो परम श्रेष्ठ स्वप्न है, महारानी। संकेत तो

यही है कि तुम्हारे गर्भ से उत्तम लक्षणों वाला सत्साहसी पुत्र जन्म लेगा। प्रात:काल स्वप्न विशेषज्ञों एवं नैमेत्तिकों को बुलाकर इस स्वप्न का विशदार्थ ज्ञात करेंगे। जाओ, अभी धर्म क्रिया में निमग्न हो जाओ।

स्वप्न फल जान धारिणी अति हर्षित हुई। वह वहाँ से शयन कक्ष में चली गई तथा धर्म क्रिया में प्रवृत्त हो गई। प्रात:काल स्वप्न पाठकों ने भी यही फल बताया कि महारानी की कुक्षि से एक वीर एवं यशस्वी बालक जन्म लेगा।

गर्भकाल में रानी धारिणी गर्भस्थ बालक की अनुकम्पा के लिए यतना के साथ खड़ी होती, यतना के साथ बैठती तथा यतना के साथ सारे कार्य करती। मेधा और वायु को बढ़ाने वाला, इन्द्रियों के अनुकूल, निरोग एवं देशकाल के अनुसार न अति तिक्त, न अति कटु, न अति अम्ल एवं न अति मधुर किन्तु गर्भ के हितकारक परिमित तथा पथ्य आहार करती थी और चिन्ता, शोक, दीनता, भय तथा परित्रास नहीं करती थी। इन सब भावों से रहित होकर ही वह भोजन, आच्छादन, गंधमाल्य और अलंकारों का भोग करती हुई सुखपूर्वक उस गर्भ का पालन करती थी।

धारिणी रानी ने यथासमय एक सुन्दर एवं सुलक्षण पुत्र को जन्म दिया। हर्षमग्न दासियों ने यह शुभ समाचार

जब राजा को सुनाया तो उन्होंने अपने मुकुट के सिवाय सारे आभूषण उन दासियों को पुरस्कार में दे दिए। नगर में अतिशय साज-सज्जा के साथ पुत्र जन्म का उत्सव मनाया गया। यथा गुण तथा नाम के अनुसार पुत्र को नाम दिया गया-सुबाहु कुमार।

सुबाहु कुमार सुखमय लालन-पालन में बड़ा होने लगा। योग्य वय हो जाने पर कलाचार्य के पास भेजा गया, जिन्होंने उसे अल्पकाल में ही बहत्तर कलाओं में प्रवीण, सुयोग्य, सुनिश्चित एवं सुसंस्कारित बना दिया। राजा ने कलाचार्य को पर्याप्त धन देकर उनका आदर सत्कार कियाँ यौवन की देहरी पर चढ़ने के साथ ही राजा अदीनशत्रु ने शुभ मुहूर्त में अपने पुत्र का विवाह पुष्पचूला आदि पाँच सौ सुन्दर राजकुमारियों के साथ कर दियाँ पूर्व सुकृत के फलस्वरूप सुबाहु कुमार सुख-सामग्री युक्त प्रासाद में रहते हुए एवं पाँचों प्रकार के इन्द्रिय सुख भोगता हुआ सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगा।

भगवन्, आपकी अमृतवाणी का श्रवण कर मेरा हृदय अतीव प्रफुल्लित हुआ है और अभिलाषा जागी है कि मैं आप द्वारा प्रदर्शित पथ पर गतिशील बनूँ। इस समय आपके चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण करने में तो मैं समर्थ नहीं हूँ किन्तु आपके पास श्रापक के बारह व्रत अंगीकार करने का इच्छुक हूँ इस हेतु आप कृपा

करें-करबद्ध होकर धर्म सभा की समाप्ति के पश्चात् राजकुमार सुबाहु ने भगवान महावीर से नम्र निवेदन किया। भगवान महावीर नगर के पुष्करंड उद्यान में गौतम स्वामी आदि श्रमणों के साथ विराजमान थे, जहाँ नगर से परिषद् वन्दन नमस्कार करने तथा धर्मोपदेश श्रवण करने गई थी। राजा अदीनशत्रु भी सुबाहु कुमार एवं राज-परिवार के साथ वहाँ पहुँचा था।

सुबाहु, जैसा सुख हो, वैसा करो, किन्तु धर्म कार्य में तनिक भी शिथिलता का व्यहार न करो-भगवान ने सुबाहु कुमार की अभिलाषा के अनुरूप श्रावक के बारह व्रतों का उसे प्रत्याख्यान कराया।

जब सुबाहु कुमार आदि वहाँ से चले गए तो गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पृच्छा की-भगवन्! यह सुबाहु कुमार सभी लोगों को अतीव प्रियकारी एवं ईष्टकारी प्रतीत होता है-ऐसा क्यों? यह सुन्दर व स्वरूपवान भी है तथा इसे महाऋद्धि की प्राप्ति भी हुई है-यह इसके किस पुण्यबंध से हुआ है? कृपा करके स्पष्ट कीजिए ताकि सामान्यजन यह बोध लें सकें कि ऐसा शुभ कार्य करने पर ऐसी शुभ प्राप्ति सम्भव होती है। यह भी बताने की कृपा करें कि सुबाहु कुमार का जीव पूर्वभव में कौन था तथा उसने कौन से श्रेष्ठ कार्यों का आचरण किया?

तो गौतम, इसके पूर्वभव की कथा सुनो।

एक समय हस्तिनापुर नगर में धर्मघोष नामक स्थविर अपने पाँच सौ शिष्यों सहित पधारे। उसी नगर में सुमुख नामक गाथापति रहता था। वह परोपकारी, सहृदय एवं धर्मनिष्ठ गृहस्थ था।

आचार्य धर्मघोष के शिष्य सुदत्त नामक अणगार मास-मास खमण (एक-एक मास की तपस्या) किया करते थे। उस दिन उनका मासखमण का पारणा था, अतः वे तीसरे पहर भिक्षा के लिए निकले। नगर के कई घरों में भिक्षा की गवैषणा करते हुए वे सुमुख गाथापति के घर गए। मुनिराज को पधारते देखकर सुमुख अपने आसन से उठ खड़ा हुआ, उसने सात-आठ कदम आगे जाकर मुनि को यथा विधि-वन्दन किया एवं भिक्षा हेतु पधारने की विनती की।

मुनिराज को लेकर वह रसोईघर में गया। वहाँ उसने शुद्ध आहार पानी का दान किया। उस दान की एक अति विशिष्ट स्थिति थी-द्रव्य, दाता और पतद्ग्रह तीनों शुद्ध थे। आहार जो दिया गया, वह द्रव्य भी शुद्ध था, फल की वांछा रहित होने से दाता भी शुद्ध था एवं दान लेने वाले भी शुद्ध संयम के पालन करने वाले भावितात्मा अणगार थे। ऐसे तीनों प्रकार से शुद्ध दान का संयोग विशिष्ट सौभाग्य से ही प्राप्त होता है। तीनों की

ही शुद्धता के कारण सुमुख गाथापति ने संसार परित्त किया और मनुष्यायु का पुण्य बंध।

शुद्ध दान की महत्ता प्रकाशित की देवों ने। आकाश में देव दुन्दुभी बजी तथा पुष्प, वस्त्र आदि की वृष्टि हुई। देवताओं ने सोनैयों की भी वर्षा की। इसके साथ ही शुद्ध दान का जयघोष सम्पूर्ण गगनमण्डल में गूँज उठा- **अहो दाणं, अहो दाणं**।

नगर में यह संवाद प्रसारित होते ही नगर जन सुमुख गाथापति के यहाँ एकत्रित होने लगे तथा मुक्तकण्ठ से उसके शुद्ध दान की सराहना करने लगे।

इसी सुमुख गाथापति का जीव वहाँ का अपना आयुष्य पूर्ण करके हस्तिशीर्ष नगर में राजा अदीनशत्रु एवं रानी धारिणी के पुत्र सुबाहुकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ एवं उसे ईष्टकारी तथा प्रियकारी व्यक्तित्व तथा अपूर्व ऋद्धि व सुख सामग्री की उपलब्धि हुई।

भगवन्, आपके अति कृपा करके सुबाहुकुमार के पूर्व भव पर प्रकाश डाला, जिसमें स्पष्ट हुआ कि शुद्ध दान के कारण अतिशय पुण्य बंध होता है। अब कृपा करके यह भी बताएँ कि क्या यह सुबाहुकुमार आपके समीप दीक्षा भी ग्रहण करेगा?

हाँ गौतम, सुबाहुकुमार यथासमय मेरे पास दीक्षा भी ग्रहण करेगा-भगवान ने उत्तर दिया।

तदन्तर भगवान वहाँ से सर्व शिष्यों सहित विहार कर गए।

श्रावक व्रत अंगीकार करने के पश्चात् सुबाहुकुमार अना अधिकांश समय धर्माराधना में व्यतीत करता था। एक समय वह तेले का तप करके पौषध शाला ध्यान मग्न बैठा हुआ था। तभी उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जो राजकुमार आदि भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करते हैं, वे धन्य हैं। अब जब भी यहाँ पर भगवान का पुनः पधारना होगा तो मैं भी उनके समीप मुण्डित होकर दीक्षा ग्रहण कर लूंगा।

भगवान तो सर्वज्ञाता थे। सुबाहुकुमार के इस अध्यवसाय को जानकर वे हस्तिशीर्ष नगर में पधारे। परिषद् दर्शनार्थ गई। सुबाहुकुमार भी गया। सब ने धर्मदेशना सुनी। सुबाहुकुमार ने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर प्रव्रज्या स्वीकार करने की अपनी इच्छा जताई। माता-पिता को सन्तुष्ट कर उसने आज्ञा प्राप्त की तथा दीक्षा ग्रहण की। ज्ञान एवं क्रिया की मुनि सुबाहुकुमार ने उत्कृष्ट आराधना की। वे सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए, कई भव करके मोक्ष जाएंगे।

स्त्रोत-विपाक सूत्र-सुख विपाक।

सार-पुण्यार्जन से सुखपूर्वक प्रगति होती है।

❖ ❖ ❖

अंगुली से उपजा उजाला

ओ देवानुप्रियों, चातुर्मास काल समाप्त हो गया है किन्तु मेरे लिए अतीव कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गई है-आचार्य संयमसूरि ने अपने मंतव्य को अभिव्यक्त करना आरम्भ किया।

आचार्य संयमसूरि ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अपनी शिष्य मण्डली सहित नगरी में पधारे थे तथा वहीं पर उन्होंने चातुर्मास किया था। अब चातुर्मास काल के समाप्त हो जाने पर दो प्रकार की समस्याएँ उनके सामने आई थी, अत: उन्हीं के विषय में उन्होंने अपना मंतव्य अभिव्यक्त करने की दृष्टि से अपने शिष्यों को एकत्र करके विचार-विमर्श करना शुरू किया।

क्या कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, गुरुदेव? शिष्यों ने पूछा।

वस्तुस्थिति दो दृष्टियों से उलझ गई है। पहली बात यह है कि मेरी शारीरिक अवस्था अत्यधिक क्षीण हो गई है तथा मेरा दूर-दूर विचरण कर पाना सम्भव नहीं रहा है, अतः मैं तो कुल्लपुर नगरी के ही भिन्न-भिन्न भागों में विहार करते हुए अपने चातुर्मास कर पाऊँगा। यह मेरा अपवाद मार्ग होगा। किन्तु दूसरी बात यह है कि यहाँ भयंकर दुष्काल पड़ गया है, उत्सर्ग मार्ग के अनुसार तुम सबका यहाँ रहना उचित नहीं रहा है। इस कारण तुम सब यहाँ से विहार कर लो एवं अन्य देश में विचरण करो, जहाँ दुष्काल नहीं है।

गुरुदेव, आपकी आज्ञा हमारे शिरोधार्य है, किन्तु आपकी सेवा सुश्रूषा का क्या होगा?

उसकी तुम चिन्ता न करो। गुरु ने अपनी ओर से सबको निश्चिन्त किया तथा सबको वहाँ से विहार करवा दिया।

आचार्य फिर कुल्लपुर नगरी को नौ भागों में बांट कर एक-एक भाग में अपना शेषकाल व्यतीत करते हुए वहीं विचरण करते रहे तथा नवमें भाग में उन्होंने अपना आगामी चातुर्मास किया।

वे उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग के श्रेष्ठ ज्ञाता एवं गुणाभिलाषी आचार्य थे तथा प्रस्तुत परिस्थितियों में श्रेष्ठ रीति से संयम मार्ग के पालनहार, अतः उनकी गुण

गरिमा से प्रभावित होकर कई श्रद्धालु देव उनकी सेवा में रहकर अपने आपको धन्य मानने लगे।

एक बार आचार्य से मिलने के लिए उनके कुछ शिष्य कुल्लपुर श्रावस्ती नगरी में आए। उन शिष्यों में एक शिष्य था दत्त। इस दत्त शिष्य को उत्सर्ग मार्ग का तो ज्ञान था, किन्तु वह अपवाद मार्ग का स्वरूप नहीं जानता था। चूंकि वह शिष्य उनके दर्शन करने तथा उनकी सेवा करने आया था, अतः आचार्य उसकी भक्ति को मान देने की दृष्टि से गौचरी में उसे अपने साथ ले गए।

तब भी वहाँ पर दुष्काल चल रहा था, इस कारण कई घरों में घूमने पर भी उन्हें आवश्यक आहार की प्राप्ति नहीं हुई। इस पर वह दत्त शिष्य सोचने लगा-ये आचार्य जान बुझकर मेरे को उन गरीबों के घरों में ही चल रहे हैं, जहाँ पर अच्छा आहार नहीं मिलता है, जबकि स्वयं तो ऐसे सम्पन्न घरों में जाते होंगे और उन घरों से अच्छा आहार लाते होंगे। उस शिष्य के व्यवहार में तथा उसकी बात में जब आचार्य को उसके इस प्रकार के विचारों की झलक मिली तो आचार्य उसे एक भक्ति सम्पन्न गृहस्थ के घर भिक्षा हेतु ले गए।

उस गृहस्थ के घर में एक विपदा चल रही थी। उसके छोटे पुत्र के साथ किसी व्यन्तर देव ने छलना कर रखी थी-कि वह बालक रोता ही रहता था, कभी

भी चुप नहीं होता था। इस विपदा को छः माह हो गए थे और इस कारण से उस परिवार के लोग बहुत दुःखी हो रहे थे। आचार्य जब उसके घर में पधारे तो उस गृहस्थ ने उन्हें अपनी इस विपदा की जानकारी दी। आचार्य ने इस बालक की ओर देखा इस भाव से भी कि ऐसी दशा किस कारण से हो रही थी? उनकी सेवा में चूंकि कई देवता रहा करते थे, जो उनकी गुणशीलता पर प्रसन्न थे। उनका ध्यान उस समय उस बालक की ओर आकर्षित हुआ। आचार्य के प्रभाव एवं यश को बढ़ाने की शुभ भावना उत्पन्न होने के कारण उन देवों ने अपना कार्य किया और उस बालक को तुरन्त स्वस्थ बना दिया। वह गृहस्थ तो आचार्य की अनुपम तजस्विता देखकर आनन्द विभोर हो गया कि उनकी अपूर्व दृष्टि के प्रभाव से बालक पल भर में स्वस्थ हो गया। इस प्रसन्नता के कारण उस गृहस्थ ने भिक्षा में आचार्य को मोदक (लड्डू) वेहराने चाहे, किन्तु आचार्य ने अपने आहार की सात्विकता की दृष्टि से वे मोदक लिए नहीं। स्वयं की आवश्यकता के लिए उन्हें वह आहार उपयुक्त नहीं लगा। किन्तु वे मोदक उन के निर्देश पर उस गृहस्थ ने उनके शिष्य दत्त के पात्र में वेहराये ताकि उस साधु के मन में रही हुई अच्छे आहार की आकांक्षा पूर्ण हो सके।

किन्तु सायंकाल प्रतिक्रमण करते समय आचार्य ने अपने इस दत्त शिष्य को कहा–हे मुनि, आज भिक्षा में जो आहार–मोदक तुमने प्राप्त किया तथा उसका उपभोग किया, वह दोषयुक्त था, वह धात्री पिण्ड था, अत: उसके लिए **'मिच्छामि दुक्कडं'** कहकर प्रायश्चित करो।

यह सुनकर वह शिष्य मन ही मन विचार करने लगा–इन आचार्य की विचित्र मनोदशा हो गई दिखती है। स्वयं तो नौ माह से अधिक समय हो गया, जो एक ही स्थान पर पड़े हुए हैं और दोषयुक्त आहार का उपयोग कर रहे हैं पर मुझे ऐसी बात अपने शिथिलाचार को ढकने के लिए ही शायद कह रहे हैं। उनका यह प्रायश्चित करने का निर्देश ढोंग है ताकि मैं यह समझ सकूं कि आचार्य एक स्थान पर रहते हुए भी अपनी आहार–चर्या में किसी प्रकार का दोष नहीं लगने देते हैं। ऐसा विचार करते हुए उसका मन आक्रोश से भर उठा। वह बोला–गुरु महाराज, आप तो दीर्घकाल से ऐसा ही आहार लेते आ रहे हैं, किन्तु मेरे आज के आहार ग्रहण पर उसमें दोष देख रहे हैं। यह तो क्या आपकी दोष दृष्टि ही न हुई? ऐसी सोच में गुरु को नगर के जिस भाग में छोड़कर गया था, उसी भाग में मिलना भी है।

शिष्य, क्या तुम सोच भी सकते हो कि मैं ऐसा

करुँगा? मैं अपनी साधुचर्या में सदैव पूर्ण विशुद्धता रखने के लिए सतर्क रहता हूँ। तुम्हारी अच्छे भोजन के प्रति जो लोभ दृष्टि थी, उसी कारण तुम्हें उस घर से आहार दिलवाया था किन्तु पूर्ण शुद्ध नहीं होने से ही तुम्हें प्रायश्चित की बात कही है। इसे अपने लिए हितकारी ही मानो। आचार्य ने अपने निर्देश का स्पष्टीकरण दिया।

दत्तमुनि को वह स्पष्टीकरण कहाँ भाने वाले था। उसे उस स्पष्टीकरण से जहाँ शान्त होना चाहिए था वहीं वह प्रद्वेष से भर गया। परिणाम यह हुआ कि उसकी दृष्टि छिद्रान्वेषी बन गई। वह गुरु के वचनों का अपने ही ढंग से अर्थ लगाता व दु:खी होता रहता और बात-बात में क्लेश भी करता रहता।

उसने अपनी बैठक भी गुरु से कुछ दुरी पर कर ली।

एक बार वह प्रतिक्रमण करके अपनी बैठक की तरफ जाने लगा कि अकस्मात् भंयकर घना अंध कार हो गया। ऐसा, गुरु की सेवा में रहने वाले देव द्वारा किया गया था। वह चाहता था कि वह दत्तमुनि यह जाने कि गुरु की आखाशातना से कैसी दुर्गति होती है।

उस घने अंधकार में उसे रास्ता भी नहीं सूझ रहा था। वह उस स्थिति में व्यामूढ़ व व्याकुल हो गुरु

को पुकारने लगा। गुरु ने कहा वत्स यहाँ मेरे पास आ जाओ।

शिष्य-आऊँ कैसे? मुझे तो इस घने अंधकार में कुछ भी दिखाई नहीं देता।

तब गुरु ने अपनी अंगुली में थूक लगा उसे ऊँची की। वह जलते हुए दीपक की तरह भाषित होने लगी। इस पर शिष्य के मन में विकार पैदा हुआ-अरे! गुरुजी तो सावद्य दीपक भी रखने लगे हैं। दृष्टिकोण के कारण वह अब भी गुरु में दोष ही देख रहा था। उसके उस रवैये से देवता अप्रसन्न होता हुआ उसे फटकारते हुए बोला-अरे दुरात्मा! तू गौतम जैसे गुरु का भी अपमान कर रहा है। तुझे पता है गुरु की आशातना करके तू कौनसी दुर्गति में आएगा?

इस तरह अत्यन्त कठोर शब्दों में उसे डांटा, तब दत्त मुनि पश्चात्ताप करता हुआ गुरु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए बार-बार क्षमायाचना की। आखिर पापकर्म की आलोचना करके वह सद्गति का अधिकारी बना।

स्त्रोत-श्री धर्मदास गपि रचित उपदेशमाला

सार-एक साधु को चर्या-परीषह के महत्व को समझना चाहिए।

❖ ❖ ❖

देवता ने जो पीछा पकड़ा

भगवन्, मैं सुलभबोधि (सरलता से प्रतिबोध पाने वाला) हूँ अथवा दुर्लभ बोधि (कठिनाई से प्रतिबोध पाने वाला) हूँ?

महाविदेह क्षेत्र में विहरयान तीर्थंकर भगवान के समक्ष देव करबद्ध खड़ा था और उपरोक्त प्रश्न पूछ रहा था। उन्होंने उत्तर दिया-तुम पूर्वजन्म में अचलर नगर में थे प्रधान पुत्र! राजकुमार व तुम दोनों धनिष्ठ मित्र थे। साथ खेले, साथ बड़े हुए तथा दोनों ने साथ-साथ ही दीक्षा अंगीकार की।

फिर क्या हुआ, प्रभु! देव की जिज्ञासा प्रबल हुई कि उन्हें उनके प्रश्न का क्या उत्तर मिलता है?

देव, दीक्षित हो जाने के अनन्तर दोनों की मनोवृत्तियों का अन्तर स्पष्ट था। राजपुत्र मुनि की तो संयम साधना में पूर्ण रति (आनन्दी वृत्ति) थी किन्तु

तुम्हें (प्रधान पुत्र-मुनि को) अभिमान के कारण संयम साधना के प्रति जितनी आनन्दी वृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए उतनी नहीं होती थी। तुम्हारे मन में अरति का भाव अधिकांश में रहता था, फिर भी तुम मित्र (राजपुत्र) के सहवास के प्रभाव से समान रूप में धर्मक्रियाएँ किया करते थे। वैसी समान धर्मक्रियाओं के कारण ही तुम दोनों देव के रूप में उत्पन्न हुए हो।

स्वामी, हमें प्रश्न बोध की दृष्टि से सरलता या दूरूहता के सम्बन्ध में है। इस पर तीर्थंकर देव ने फरमाया सुनो कौशाम्बी नगरी का तापस श्रेष्ठी मर कर शुकर सर्प रूप तिर्यंच भव पूर्ण कर अपने ही पुत्र के पुत्र रूप में जन्मा है। उसे जाति स्मरण ज्ञात हो जाने से वह अपनी पुत्र वधू को माता कैसे कहे, ऐसा सोच मौन धारण किए हुए है। तुम देव भवपूर्ण कर उसी मौनी की माता की कुक्षि से जन्म लोगे किन्तु संयम में अरति भाव के कारण तुमने जो अबोधि जन्म कर्मोपार्जन किया है। उसके परिणाम स्वरूप तुम दुर्लभ बोधि होओगे।

तीर्थकर भगवान द्वारा दिया गया उत्तर सुन देव खेद को प्राप्त हुआ किन्तु सोचने लगा तीर्थंकरों के वचन तहमेव सत्य होते हैं। ऐसा विचार कर वह तीर्थंकर देव की चरण-वंदना करता हुआ वहाँ से सीधा उस मौनी के पास उपस्थित हुआ और ढेर सारा द्रव्य

देकर बोला-मैं तुम्हारे छोटे भाई के रूप में जन्म लेने वाला हूँ। तुम्हें मेरा एक काम करना है। मौनी ने हाथ के इशारे से कहा-बताओ क्या काम है? तब उसने कहा-देखों मेरे में धर्म-वहाँ रूचि का अभाव रहेगा, अतः तुम ऐसा प्रयत्न करना कि मेरे में धर्म की भावना पैदा हो जाए मौनी ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

मौनी अपने छोटे भाई को साधुओं के दर्शन कराने ले जाता पर वह दुर्लभ बोधि होने से रोने लगता था। बड़े भाई ने अपने द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार प्रयत्न जारी रखने पर दुर्लभ बोधि जीव इतनी सुलभता से कैसे बोध प्राप्त कर सकता था? उसे प्रतिबोधित करते-करते मौनी को वैराग्य आ गया, वह प्रव्रजित हुआ। संयम आराधना से मर कर देव बना। देव ने जब अवधि ज्ञान से अपने पूर्व भव के वृत्तान्त को जाना तो उसे अपने द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव की भी याद आ गई।

तब देव ने अपने प्रयोगों का क्रम प्रारम्भ किया-सरल प्रयोग से श्री गणेश करके विफलता की दशा में कठिन एवं कठिनतर प्रयोग लागू किए जाने चाहिए ऐसा उसने निश्चय कर लिया। सरल प्रयोग से कार्य बन जाए तो कठिन प्रयोग क्यों? उसने यह भी निर्णय ले लिया कि चाहे कितने ही कठिनतम प्रयोग भी क्यों न करने पड़े-वह कभी हार नहीं मानेगा। वह अपने

भाई के पीछे पड़ा ही रहेगा, जब तक कि वह प्रतिबोध प्राप्त नहीं कर लेगा–

मेरे भाई! यह संसार असार है, इस कारण जागो, प्रतिबोध पाओ दीक्षा अंगीकार कर लो।

स्वप्न में देखी हुई देवमूर्ति के मुख से शब्द सुनकर वह व्यापारी पुत्र हड़बड़ा कर जाग उठा। फिर वहाँ किसी को न देख उसकी चिन्ता मिटी। राहत की साँस लेकर वह बड़बड़ाया–कौन है ऐसा ठाला देव, जिसे और कोई काम नहीं है और जो चला आया मुझे परेशान करने? उसे क्या पड़ी है जो मुझे जगाना चाहता है? मैं अपनी सुख निद्रा में सोया हुआ था, वह कौन होता है मुझे जगा देने वाला? नहीं जागना, नहीं प्रतिबोध पाना और नहीं दीक्षा लेनी मुझे–वह क्या कर लेगा मेरा? फिर यदि वह मुझे हैरान करने आया तो देख लूंगा उसे। मैं कतई नहीं चाहता कि वह फिर से आए और अनर्गल बातें मुझसे करे।

देव ने अनुभव कर लिया कि उसके अन्तःकरण पर धर्म के प्रति अरति का आवरण अति प्रगाढ़ है। सरल प्रयोग से कार्य बनने वाला नहीं है–कड़वी औषधि के समान कुछ कठिन प्रयोग करना होगा। उसने अपना अगला चरण निश्चित किया।

व्यापारी और उसकी पत्नी एकटक अपने रोगग्रस्त

पुत्र को व्यथा भरी आँखों में झाँक रहे थे। उनके आँसुओं की लड़ी टूटती ही नहीं थी। उनके पुत्र को जलंधर रोग हो गया था और ज्यों-ज्यों उसके रोग की वे चिकित्सा कराते थे, त्यों-त्यों रोग घटने की बजाय बढ़ता ही जाता था। अपने पुत्र की घोर वेदना उनसे देखी नहीं जा रही थी।

उस समय उनके एक सेवक ने भीतर आकर सूचना दी-स्वामी, बाहर कोई वैद्य आए हैं। वे कहते हैं कि उन की चिकित्सा अवश्य सफल होगी तथा श्रेष्ठिकुमार पूर्ण स्वस्थ हो जाएंगे। क्या मैं उन्हें भीतर ले आऊँ?

क्या यह भी कोई पूछने की बात है? उन्हें पूर्ण सम्मान के साथ तुरन्त भीतर ले आओ।

वैद्य भीतर आए। उन्होंने रोगी को देखा, उसकी रोग परीक्षा की, फिर पूरे विश्वास के साथ कहा-आपका पुत्र मृत्यु के कगार पर खड़ा हुआ है-कुछ ही समय का मेहमान है यह-पर मैं इसे स्वस्थ कर दूंगा, किन्तु.....

यह 'किन्तु' क्या है वैद्यराज जी? आप किसी बात का विचार मन में न रखें। मैं अपनी समग्र सम्पत्ति आपको भेंट कर दूंगा। आप तो इसे स्वस्थ बना ही दीजिए।

सम्पत्ति नहीं चाहिए मुझे और न ही मुझे आपसे कुछ भी लेना है। मुझे जो कुछ भी लेना है वह रोगी से

ही-इसी को पूछकर देखता हूँ। फिर वैद्यजी ने रोगी की ओर रुख किया और कहा-अरे भाई, मैं तुम्हें निरोग बना दूंगा, पर उसके लिए तुम मुझे क्या दोगे?

वैद्यराज जी, आप देख रहे हैं कि मैं कितनी मरणान्तक पीड़ा सह रहा हूँ? आप मुझे निरोग कर दें तो आप जो कुछ मांगेंगे, वही मैं आपको दूंगा।

सोच लो ठीक तरह से, जो मैं मांगूंगा, वही तुम दोगे न? इसका वचन दे सकते हो।

मैं आपको वचन देता हूँ। आप तो मेरे रोग का उपचार आरम्भ कीजिए। वैद्य ने उसका उपचार आरम्भ कर दिया और शीघ्र ही उसके रोग का निवारण भी कर दियाँ फिर उसे कहा-तुम एक बार मेरे साथ चलो।

अपने वचन की पालना में वह व्यापारी पुत्र वैद्यजी के साथ-साथ चला। नगर से बाहर पहुँचने पर वैद्य ने उसके सिर पर एक बड़ा गट्ठर रखा तथा देवमाया से उसका इतना भार बढ़ा दिया कि वह उसे उठाकर चलने में अशक्त हो गया। तभी दोनों ने देखा कि कुछ ही दूरी पर एक साधु महात्मा धर्मोपदेश कर रहे थे। वैद्य ने वह गट्ठर नीचे उतरवाया तथा दोनों उपदेश श्रवण करने के लिए उस धर्मसभा में बैठ गए। संसार में वैराग्य ग्रहण करने का उपदेश उन्होंने सुना। देशना समाप्त होने पर दोनों उठ खड़े हुए। वैद्य ने

कहा-इस गट्ठर को सिर पर फिर से उठाओ, अब हमें आगे चलना है।

व्यापारी पुत्र बोला-चाहे आप कुछ और करने को कह दीजिए, किन्तु इस अतिभार वाले गट्ठर को तो मैं कदापि उठा नहीं सकूंगा।

गट्ठर नहीं उठा सकते हो तो एक काम करो-इन साधु महात्मा के पास दीक्षा अंगीकार कर लो।

यह भी उतना ही कठिन है। वैद्यजी से उसने कहा और उसका चेहरा उतर आया।

अरे मूर्ख, दीक्षा ले लेगा तो तेरा कल्याण हो जाएगा तथा तेरा यश भी चारों ओर फैलेगा। इसमें क्या कठिनाई है?

कोई और बात बताएँ, वह मैं कर लूंगा, किन्तु दीक्षा तो नहीं ले पाऊंगा।

वैद्य बने देव को उसके इस कथन से बड़ा ही खेद हुआ कि यथार्थ में कितनी दुर्लभ है इसकी बोधि फिर भी उसे अपना प्रयास तो अन्त तक चालू रखना था। वह क्रोध दिखाते हुए बोला-इसके सिवाय मैं और कुछ नहीं जानता-या तो तुम इसी समय दीक्षा ले लो अथवा वही जलंधर रोग उससे भी अधिक जटिलता के साथ मैं तुम्हारे शरीर में फिर से पैदा कर दूंगा। बोलो क्या चाहते हो?

कोई उपाय न देख व्यापारी पुत्र विवश हो गया, बोला–ठीक है, फिर मैं दीक्षा ही ले लेता हूँ।

व्यापारी पुत्र ने दीक्षा ली किन्तु वह उसे एक भार मानता रहा। धर्म के प्रति कोई भी प्रीति उसके मन में उत्पन्न नहीं हुई। जब कोई भय सामने नहीं रहा तो उसने दीक्षा छोड़ दी। देव वैद्य रूप में बार–बार आता रहा और उसे भय दिलाता रहा। वह भी भय के सामने फिर दीक्षा ले लेता, पर भय के ओझल होते ही वापिस दीक्षा छोड़ देता। इतना होने पर भी देव उसे बार–बार जगाता रहा कि वह कैसे भी सुलभ बोधि बन जाए। उसे तो इस दिशा में लगातार प्रयास करते ही रहना था।

व्यापारी पुत्र को फिर से दीक्षा दिलाकर वैद्य रूप में देव साथ ही रहने लगा। एक बार वह साधु और वैद्य मार्ग पर साथ–साथ चल रहे थे। उस समय देव ने अपनी माया से एक जलते हुए गाँव की रचना की तथा स्वयं ने ही एक मनुष्य का रूप भी धारण किया, जिसके सिर पर सूखे हुए घास का बड़ा सा गट्ठर रखा हुआ था।

वह मनुष्य घास का गट्ठर लिए ही उस जलते हुए गाँव में प्रवेश करने लगा। उसे देखकर साधु बोल पड़ा–अरे, पागल हो गया है क्या? घास का गट्ठर लेकर जलते गाँव में जाकर क्या स्वयं भी जल जाना चाहता है?

मनुष्य कहने लगा–मैं जाऊंगा तो अवश्य, लेकिन तुम मेरी रक्षा तो न कर लोगे न?

जलने तो स्वयं जा रहे हो, फिर मैं तुम्हारी रक्षा कैसे कर लूंगा? क्या विचित्र बात कर रहो हो तुम?

विचित्र बात तो तुम कर रहे हो, साधु महाराज! बार-बार दीक्षा लेकर भी बार-बार जलते हुए इस संसार में प्रवेश करने की इच्छा रखते हो, किन्तु संयम साधना की छाया में सुरक्षित बने रहना नहीं चाहते। मेरी तो फिर भी रक्षा हो सकती है, किन्तु तुम्हारी रक्षा कैसे होगी? इतना होने पर भी तुम्हारी धर्म में रति नहीं जागती है, यह कितने आश्चर्य की बात है?

साधु की दुर्लभ बोधि की गांठ खुल गई। देव ने जो पीछा पकड़ा तो उसको सुलभबोधि बना कर ही रहा।

स्त्रोत–उत्तराध्ययन सूत्र।

सार–संयम में रति बनावें, अरति त्यागें।

❖ ❖ ❖

माँ के आशीर्वाद के लिए

हे माता, मैं अनेक विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करके अब लौटा हूँ-आपको नमस्कार करता हूँ और आपका आशीर्वाद चाहता हूँ-आर्यरक्षित ने नमस्कार करके अपनी माता सोमा के मुख की ओर आशीर्वाद याचना की दृष्टि से देखा।

दशार्णपुर नगर में सोमदेव नाम का पुरोहित रहता था। रूद्रसोमा उसी की पत्नी तथा आर्यरक्षित उसका पुत्र था। सोमदेव ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था, जबकि वह सोमा जैन श्राविका थी। इनका पुत्र आर्यरक्षित दूर देश गया था तथा वहाँ दीर्घकाल तक रहकर उसने वेद-वेदांत आदि सभी विद्याओं का अध्ययन किया तथा उनमें प्रवीणता प्राप्त की।

जब राजा को विदित हुआ कि उसके पुरोहित का पुत्र दूरदेश से कई विद्याओं में पारंगत होकर लौट रहा है उसने राजपुरुषों को उसके अग्रिम स्वागत के लिए भेजा तथा नगर में प्रवेश करने पर उसे गजारूढ़

करा समारोह पूर्वक सारे नगर में घुमाया, जिससे समस्त नागरिकों के बीच उसकी ख्याति हुई।

उस कार्यक्रम से निवृत्त होकर आर्यरक्षित सीधा घर पर आया। सीधा अपनी माता का पद वन्दन करने के लिए पहुँचा।

मैं आपका आशीर्वाद प्राप्त करने की उत्सुकता के साथ खड़ा हूँ, माता। अभी तक आपने मुझे आशीर्वाद दिया नहीं, ऐसा क्यों? आर्यरक्षित ने तब माता से निवेदन किया और उपेक्षा का कारण पूछा।

माता सोमा ने प्रेममय मधुरता से कहा-पुत्र, मेरी दृष्टि में अभी तुम्हारा अध्ययन बाकी है, इसलिए पुत्र, तुम्हें आशीर्वाद देने हेतु मेरा हाथ नहीं उठ पाया है।

कौनसा अध्ययन मुझे अभी भी करना है, आप नि:संकोच कहिए। मैं माँ के आशीर्वाद के लिए वह सब कुछ करुँगा जिसके लिए भी आप की आज्ञा होगी। आर्यरक्षित करबद्ध होकर शान्त भाव से खड़ा रहा।

पुत्र, तुमने अभी दृष्टिवाद शास्त्र का अध्ययन कहाँ किया है? वह तो करना शेष ही है।

माता, मैं दृष्टिवाद का अध्ययन अवश्य करुँगा, किन्तु इसका प्रशिक्षण मैं किनके पास रहकर ग्रहण करूँ?

तुम तोसलीपुत्र आचार्य के पास चले जाओ, यह अध्ययन वे ही तुम्हें करा देंगे।

❑ ❑ ❑

मैं सोमदेव पुरोहित का पुत्र आर्यरक्षित आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ, आचार्य!

आचार्य ने प्रेमपूर्वक पूछा–भाई, तुम्हारा आगमन कैसे हुआ है?

मैंने अब तक चार वेद–वेदांगादि का अध्ययन किया है। मेरी माता सोमा की इच्छा और आज्ञा है कि अब मैं दृष्टिवाद शास्त्र का अध्ययन करूँ, अतः उनकी आज्ञा से ही यह प्रयोजन लेकर मैं आपके पास आया हूँ–आर्यरक्षित ने निवेदन किया।

लेकिन इसके लिए तो तुम्हें पहले दीक्षा अंगीकार करनी होगी, क्योंकि साधु पर्याय में ही ऐसा ज्ञानाभ्यास किया जात सकता है।

आर्यरक्षित ने आचार्य की बात सुनी और वह विचार में पड़ गया। कुछ समय तक वह सोचता रहा–दीक्षा लेने का अर्थ होगा संसार त्याग और अभी तक तो उसने संसार में प्रवेश ही नहीं किया है। संसार का कोई सुख देखा नहीं और संसार पहले ही त्याग दे–यह कैसे हो सकेगा? अभी ही संसार त्याग कर देने का यह भी अर्थ होगा कि सदा–सर्वदा के लिए संसार का त्यागकर क्या करुँ, क्या न करुँ–वह कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा था। तभी उसके मन ने कहा–लम्बा चौड़ा विचार करने की क्या आवश्यकता है? उसे

माता का आशीर्वाद चाहिए ही-अब उसके लिए उसे जो कुछ भी करना पड़े वह करने के लिए उसे तुरन्त कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

प्रकट रूप में उसने विनम्रता से उत्तर दिया-आचार्य, यदि इस ज्ञानाभ्यास के लिए दीक्षा अंगीकार करना अनिवार्य है तो आप कृपा करके मुझे तुरन्त दीक्षित कर लीजिये ताकि शीघ्रातिशीघ्र मैं ज्ञानाभ्यास आरम्भ कर सकूं। उसके बिना मेरे मन को शान्ति नहीं मिलेगी।

आचार्य तोसलीपुत्र ने आर्यरक्षित को दीक्षा दी तथा उसे ग्यारह अंग का अध्ययन कराना प्रारम्भ कियाँ दृष्टिवाद बारहवां अंग था, अत: उसका अध्ययन तदनन्तर ही सम्भव था।

मुनि आर्यरक्षित को ग्यारह अंगों का अध्ययन सम्पन्न करवाकर आचार्य ने दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए उन्हें आचार्य वज्रस्वामी के समीप में भेज दिया। उन्होंने अनुक्रम से नवपूर्व तक का ज्ञान प्राप्त किया।

ज्ञान की गहनता में जो प्रवेश करता है, वही ज्ञान की महत्ता का अनुभव करता है। ज्यों-ज्यों वह गहराई बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसकी आनन्दानुभूति ऐसी अपूर्व बनती जाती है जैसे उसे जो कुछ मिल रहा है वह अनुभूत है, अभूतपूर्व है। विद्यओं के अध्ययन के पश्चात् जब मुनि आर्यरक्षित ने ग्यारह अंगों का अध्ययन

आरम्भ किया तथा उनके गूढ़ार्थ में प्रवेश लिया तब उन्हें ऐसी ही अद्‌भुत आनन्दानुभूति होने लगी थी। दृष्टिवाद के अध्ययन के साथ तो उनकी आत्मा आनन्दविभोर हो उठी।

इधर रुद्रसोमा को अपने पुत्र की याद आने लगी। उसने छोटे लड़के फल्गुरक्षित को उसे बुलाने हेतु भेजा। वह फल्गुरक्षित आर्य के पास आकर कहता है कि आप दशार्णपुर चलो, माताजी भागवती दीक्षा अंगीकार करेंगी तथा अन्य भी इस मार्ग को स्वीकार करेंगे। तब आर्यरक्षित ने कहा–पहले तुम दीक्षा लो, फिर देखेंगे। फल्गुरक्षित ने तुरन्त संयम ग्रहण कर लिया–तब आर्यरक्षित की दशार्णपुर जाने की इच्छा हुई। अतः गुरु की आज्ञा लेकर वे दशार्णपुर नगर पहुँचे।

मुनि आर्यरक्षित ने एकत्रित परिवारजनों को धर्मदेशना प्रदान की–हे देवानुप्रियों, मुझे ग्यारह अंगों तथा दृष्टिवाद का अध्ययन करने का जो सुअवसर मिला है, उससे मैंने आत्मधर्म के अन्तर्रहस्य का परिचय पाया है। धर्म वही है जो आत्मा को अभिभूत कर देता है तथा उसे कल्याण मार्ग पर सक्रिय बना देता है। कोरे ज्ञान से आत्मा का कल्याण नहीं होता, अतः सम्यक् ज्ञान की कसौटी यही है कि वह सम्यक् चारित्र की प्रेरणा दे, जिससे ज्ञान और क्रिया का बल एकीभूत होकर आत्मा

को विकास पथ पर अग्रसर बना दे। इस ज्ञानाभ्यास से मैं जान पाया हूँ कि मोक्ष को प्राप्त करने का त्रिमार्ग यही है-सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र.....

मैं आपको बताना चाहता हूँ कि माता का आशीर्वाद तो महाना होता ही है, किन्तु माता के आशीर्वाद को प्राप्त करने की अभिलाषा तक का फल अपूर्व होता है और मुझे वैसा ही अपूर्व फल इस ज्ञान लाभ में मिला है...।

उसी ज्ञान लाभ के लिए मैं आप सबको भी प्रतिबोध देता हूँ। कारण, मुझे जो अपूर्व आनन्द का अनुभव मिल रहा है, मेरी भावना है कि उसका रसास्वादन आप सब भी करें। इस ज्ञान को आप प्राप्त करें, इसमें सन्निहित भावना को हृदयंगम करें तथा इस पर गहन चिन्तन करते हुए चारित्रधर्म के लिए सन्नद्ध हों।

मुनि की धर्मदेशना से अभिभूत हो उनके पिता सोमदेव ने प्रव्रज्या लेने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु उन्होंने इसके लिए अपनी एक शर्त रखी। सोमदेव ने कहा-यदि मुझे धोती को वस्त्र रूप में पहने रहने दो तथा जनेऊ धागा, कमंडलु एवं छत्र तथा जूते भी रखने दो तो मैं दीक्षा लेने के लिए तत्पर हूँ।

मुनि आर्यरक्षित ने सोचा कि एक बार इन्हें गृहस्थवेश से मुक्त करके साधु पर्याय में ले आऊँ, यह मेरा कर्त्तव्य है, अतः इस समय इनके द्वारा माँगी गई

छूट को स्वीकार कर लेना ही श्रेयकारी है। उन्होंने कहा–भागवती दीक्षा में ऐसी छूट देने का प्रावधान नहीं है, किन्तु आपकी भावना का समादर करते हुए आपको ये वस्तुएँ रखने की छूट देता हूँ। ऐसा मानने पर सोमदेव ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

तब दोनों नवदीक्षितों को साथ लेकर मुनि आर्यरक्षित अपने गुरु के पास पहुँचे। वहाँ अन्य साधुओं ने सभी को वन्दन नमस्कार किया किन्तु आचार्य देव के द्वारा सिखाए जाने पर सोमदेव को नहीं किया। तब सोमदेव ने पूछा–आपको सबको वन्दन नमस्कार किया, किन्तु मुझे नहीं किया–ऐसा क्यों? क्या मैंने दीक्षा नहीं ली? क्या मैं साधु नहीं माना जाता हूँ?

तब इन साधुओं ने कहा–आपको हम नमस्कार कैसे करें? आप तो गृहस्थी के वेश में हैं? आपने साधु वेश कहाँ धारण कर रखा है? जब तक आप जनेऊ, कमंडलु, छत्र आदि का त्याग न करें हम आपको साधु मान नमस्कार नहीं कर सकते हैं।

इस पर मुनि सोमदेव को विचार हुआ और उन्होंने आपत्तिजनक इन वस्तुओं का त्यागकर दिया परन्तु उन्होंने धोती (वस्त्र) का त्याग नहीं किया कि मैं चोल पट्ट को धारण नहीं कर पाऊँगा। ऐसा करने में मैं लज्जा का अनुभव करता हूँ। गुरुजी ने इस के लिए उस

समय कुछ नहीं कहा तथा उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा की।

एक शारीरिक चिंता निवृत्ति हेतु बाहर गए। वहाँ सिखाए गए कुछ बच्चों ने धोती को खींचकर फाड़ दिया। उस स्थिति में वे अधोवस्त्र के लिए याचना करने लगे। संतों ने कहा हमारे पास तो चोलपट्ट है। तब उन्होंने चोलपट्ट को स्वीकार कर लिया।

एक बार एक वृद्ध साधु का समाधिपूर्वक मरण हो गया। गुरुजी ने सब साधुओं को सम्बोधित करते हुए कहा-इस मृतक साधु के कलेवर को जो अपने कंधे पर उठाकर ले जाएगा वह अपूर्व पुण्य का भागी बनेगा। इस पर मुनि सोमदेव ने वह अवसर उन्हें प्रदान करने का अनुरोध किया, गुरु ने स्वीकृति दे दी।

मुनि सोमदेव ने मृत कलेवर को अपने कंधे पर रखा, तब अन्य साधुओं ने उनकी धोती खींच ली। वे नग्न हो गए-एक बार उन्हें लज्जा लगी किन्तु शीघ्र ही विचारपूर्वक वे अचेल परीषह के महत्व को समझ गए। वे निश्चल रहे।

स्त्रोत-उत्तराध्ययन सूत्र।

सार-साधु को समय पर अचेल परीषह भी समभाव से सहना होता है।

❖ ❖ ❖

कंधे पर गुरु : माथे पर डंडा

बड़ी कठिन समस्या है। एक ओर तो गुरु महाराज का परम क्रोधी स्वभाव तथा दूसरी ओर चातुर्मास के दीर्घकाल तक सहवास-कुछ ऐसी व्यवस्था आवश्यक है कि उनके क्रोध का उभार बार-बार न हो तथा सब की संयम-साधना शान्तिपूर्वक चल सके-गुरु चन्द्ररुद्राचार्य के शिष्य आपस में विचार-विमर्श करने लगे, जब उनके गुरु ने चातुर्मास की स्वीकृति उज्जयिनी नगरी के लिए प्रदान कर दी।

शिष्यों का वार्तालाप सुनकर आचार्य ने भी विचार किया कि शिष्यों का विचार उपयुक्त है। संयम-जीवन में समाधि भाव रहना ही चाहिए। ऐसा सोचकर उन्होंने ही अपने लिए एकान्त स्थान चुन लिया जो पृथक का पृथक था और संयुक्त का संयुक्त भी।

मित्र, तुम्हारे विवाह-समारोह में तो अपूर्व ही

आनन्द आया। क्या भावूपर्ण आतिथ्य किया गया और भोजन, शयन आदि कि कितनी उत्कृष्ट तैयारी थी? एक मित्र ने अपने वर-मित्र से कहा।

विवाह सम्पन्न हो गया था तथा वर-वधू साथ-साथ चलते हुए नगर प्रवेश कर रहे थे। वर को कई मित्र भी साथ में थे। सभी मित्रों के बीच व्यंग्य-विनोद चल रहा था।

तभी एक मित्र को एक अनूठा विनोद सूझा उसने वर के साले को यह बात बताई, उसे भी बहनोईजी को छकाने का अवसर चाहिए था, उस सुझाव को कार्यान्वित करने का निश्चय कर लिया गया।

साले साहब ने गम्भीरता से कहा-यह देखो उपाश्रय आ गया है-गुरु चंद्ररुद्राचार्य के दर्शन अवश्य कर लेने चाहिए।

वर ने इस सुझाव का विरोध किया-इस समय मैंने वर के चमकीले भड़कीले वस्त्राभूषण पहन रखे हैं-ऐसी वेशभूषा में त्यागी सन्तजन के दर्शनों का लाभ लेना समुचित नहीं है। अभी तो चलते हैं, दर्शन फिर करेंगे।

सभी के सिर पर तो वर से मसखरी करने का भूत सवार था-उस मजाक का मजा कितना रहेगा? बात गुप्त रखनी थी, फिर भी एक मित्र के मुख से निकल

ही गई-अरे भाई, अभी ही यह शुभ काम कर लो। अरे मित्र, तुम इतना घबरा क्यों रहे हो? तुम्हें आचार्य दीक्षा थोड़े ही दे देंगे?

अरे, इस समय यह दीक्षा की बात बीच में कहाँ से आ गई? तुम सभी चाहते हो कि दर्शन कर लें तो चलो कर लेते हैं-व्यर्थ विलम्ब को बचाने के लिए वर ने मित्रों का सुझाव मान लिया।

वर सहित सभी मित्रों ने उपाश्रय में प्रवेश किया। उपाश्रय में प्रवेश करने पर भी मित्रों का हँसी-मसखरी का क्रम टूटा नहीं, बल्कि सच बात तो यह कि हँसी-मसखरी के लिए ही वे उस समय उपाश्रय में घुसे थे।

वर को एक ओर से एक मित्र ने तो दूसरी ओर से उसके साले ने पकड़ा और सन्तों के पास ले जाकर गम्भीर चेहरे बना उन्होंने कहा-महाराज, यह बड़े वैराग्य भाव से आपके पास आया है, इसे दीक्षा दे दीजिए। सन्तों ने विनोद की ओर ध्यान नहीं दिया और कह दिया-दीक्षा दिलानी है तो इसे हमारे गुरुजी के पास ले जाओ। वे उधर विराज रहे हैं।

विनोद के उसी रुख में वे वर को आचार्य के पास ले गए और वैसी ही विनती उनसे भी की। गुरु ज्ञानी थे और क्रोधी भी-वे उन गम्भीर चेहरों पर पीछे

छुपे हुए उपहास के भाव को ताड़ गए, उन्होंने टालने का प्रयास किया, किन्तु साले साहब व मित्रों द्वारा पुनः कहने पर आचार्य का क्रोध उभर आया। उन्होंने दोनों हाथों से वर का सिर पकड़ा और केशों का लोच कर दिया अर्थात् उसे सचमुच में मुण्डित कर लिया। कहाँ मित्रों का विनोद और कहाँ वर साधु बन गया? वर शिष्टाचारी था, उसने सोच लिया कि जब उसकी दीक्षा हो ही गई तो उसे सब कुछ भूलकर साधु धर्म के उत्तम रीति से अनुपालन के लिए ही कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

मित्र आदि तो विनोद के इस गम्भीर परिणाम को देखकर भाग खड़े हुए। उनके जाने के बाद वर से साधु बने शिष्य ने गुरु से कहा-आचार्यदेव, जो कुछ होना था, सो तो हो गया, किन्तु मेरा परिवार बहुत बड़ा है तथा परिजन प्रभावशाली हैं, अतः इस संवाद को सुनकर वे क्रोध में कोई अनर्थ न कर बैठें-इस दृष्टि से हमें भी यहाँ से निकल चलना चाहिए। जो अभी-अभी विवाह करके आया ही है और जिसने अभी तक वधू का मुख तक नहीं देखा है, उसे विनोद करने वालों से चिढ़कर दीक्षा ही दे दी-यह कार्य शायद उचित नहीं हुआ है। ऐसा मानकर आचार्य भी भयाकुल हो उठे। उन्होंने नव शिष्य की बात मान ली और दोनों उपाश्रय

से चुपचाप बाहर होकर नगरी के बाहर निकल गए।

जब वे दोनों गुरु शिष्य बाहर निकले, तब सूर्यास्त हो रहा था। कुछ दूर चलने पर ही रात का अंधेरा छाने लगा और मार्ग का दिखाई देना कठिन हो गया। गुरु को तनिक भी नहीं दिखाई दे रहा था, जिसके कारण उनके पैर ऊँचे-नीचे गिरने लगे-कभी खड्डा आ जाता तो कभी पैर पत्थर से टकरा जाते। गुरु को भारी कष्ट होने लगा तो उसके साथ ही उनका क्रोध भी बढ़ने लगा। जब अधिक वे न सह सके तो क्रोध से तमतमाकर उन्होंने उग्र स्वर में कहा-अरे पापिष्ठ, मैं तो सुख से बैठा हुआ अपनी संयम साधना कर रहा था, किन्तु तेरी दीक्षा के कारण ये इस समय जंगल में चलने से कठिन तेरी दीक्षा के कारण ये इस समय जंगल में चलने से कठिन कष्ट मुझे भुगतने पड़ रहे हैं और ऊपर से मेरी यह वृद्धावस्था-मैं तो हैरान हो गया हूँ।

शिष्य अत्यधिक वविवेकशील एवं विनयवान था, नम्रतापूर्वक बोला-गुरुदेव, आप सत्य फरमाते हैं। मेरे कारण ही आप को यह कठिन कष्ट भुगतना पड़ रहा है और मेरे सिर पर पाप का बोझ बढ़ रहा है-इस पापप से मुझे कल मुक्ति मिलेगी? मैं आप का ऐसा शिष्य बना कि आपको मेरे से सुख की बजाय दुःख मिल रहा है। सचमुच मैं पापिष्ठ ही हूँ।

अब ज्यादा बक-बक कर। मैं तो इस जंगल के अंधेरे मार्ग पर और अधिक चलने में असमर्थ हूँ-गुरु ने भारी गुस्से से फटकारते हुए कहा।

शिष्य ने गुरु कोप से शान्त भाव से सहा। वह खड़ा रह गया और बोला-गुरु महाराज, मैं आपको अपने कंधे पर चढ़ा लेता हूँ, जिससे आपको यह चलने का कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा।

गुरु ने कोई ना-नुकुर नहीं किया और शिष्य के कंधे पर बैठ गए। अब शिष्य सम्हलकर मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। फिर भी अंधेरा तो था ही-बल्कि वह अधिकाधिक गहराता जा रहा था। ध्यान रखते-रखते भी न दिखाई देने के कारण शिष्य के पाँव भी ऊँचे-नीचे पड़ जाते थे। गुरु की सहन शक्ति वैसे ही ओछी थी-दो चार झटके सहने के बाद वे उबल पड़े। हाथ में जो लकड़ी थी उसे ही उन्होंने शिष्य के माथे पर दे मारी। वार इतना जोर का था कि शिष्य के सिर से रक्त की धार बह चली।

डंडे की मार और रक्त की धार ने शिष्य के मन-मानस में एक नई जागृति का संचार कर दिया-मुझे बारम्बार धिक्कार है कि मेरे कारण गुरुदेव को इतना असह्य कष्ट भोगना पड़ रहा है। यह कैसी गुरु सेवा है? शिष्य का कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी सेवा सुश्रूषा

से गुरु को सुख पहुँचाए और मैं उन्हें ऐसा अधम शिष्य मिला कि दीक्षित होते ही उन्हें दु:ख ही दु:ख दिए जा रहा हूँ-मेरी आत्मा को धिक्कार है।

शिष्य का चिन्तन उत्कृष्टतर होता रहा था। रक्त से उसका सारा मुँह सन गया था और धारा वस्त्रों पर गिरती जा रही थी। वेदना भी उसे अह्य हो रही थी तथा शरीर में दुर्बलता भी बढ़ती जा रही थी। गुरु का बोझ भी कंधों पर था, किन्तु उसे इन सब बातों की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसका तो यही चिन्तन चल रहा था कि कैसे वह अपने गुरु के कष्ट को मिटाए तथा उन्हें सुख पहुँचावे?

धीरे-धीरे वह चिन्तन उत्कृष्टतम श्रेणी में पहुँच गया और अपूर्व क्षमा के सुफलस्वरूप उसने चार घनपाती कर्मों का क्षय कर दिया। इससे उसे केवलज्ञान की उपपलब्धि हो गई। केवलज्ञान से उसके लिए सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो गया। अब उसे वह मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा। इस कारण उसकी चाल भी पूर्णतया सन्तुलित हो गई तो तब गुरु को झटके लगना एकदम बन्द हो गया। वह गुरु को कंधे पर उठाए समान गति से उस मार्ग पर आगे बढ़ने लगा।

क्रोधी गुरु के मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वे सोचने लगे-डंडे में अद्‌भूत शक्ति होती है-इसका

प्रहार सबको ठीक कर देता है। देखो न, डंडे की मार पड़ते ही यह शिष्य भी कितना सीधा-सीधा चलने लगा है-पहले कितना उबड़-खाबड़ चल रहा था? डंडे ने मेरा इसके कंधे पर बैठना सुखमय बना दिया है। उन्होंने कहा-डंडे के एक प्रहार ने ही सब कुछ सही कर दिया।

शिष्य से कहा-गुरु सेवा से असम्भव लगने वाला भी सम्भव हो जाता है। तो क्या तुझे कोई ज्ञान पैदा हो गया है? गुरु द्वारा कहे जाने पर उसने कहा-गुरुकृपा से असम्भव है ही क्या?

गुरु चौंके, कहने लगे-शिष्य, क्या कह रहा है? ज्ञान प्रतिपाती हुआ है या अप्रतिपाती?

''कभी जावे नहीं ऐसा अप्रतिपाती, गुरुदेव।''

''तो क्या केवलज्ञान हो गया है?''

''हाँ गुरुदेव!''

गुरु तत्काल नीचे उतरे, उसे नमस्कार किया। उन्हें असीम पश्चाताप हुआ, फलस्वरूप वे भी केवलज्ञानी हो गए।

स्त्रोत-उत्तराध्ययन सूत्र।

सार-क्षमा से क्रोधी भी गुणवान हो जाता है।

❖ ❖ ❖

चार पुतलियों वाला पलंग

तुम कौन हो भाई–मुनि ने धर्मानुयोग से प्रेरित होकर पूछा।

महाराज, मैं एक लकड़हारा हूँ। मैं कम्पिलपुर का निवासी हूँ तथा मेरा नाम अकिंचन है–लकड़हारे ने विनीत भाव से निवेदन किया।

देखो भाई, तुम्हें ये जो मानव जीवन मिला है, यह धर्मसाधना के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसे मात्र निर्वाह प्रयास में ही नष्ट न करो। कुछ न कुछ ऐसा व्रत नियम भी ग्रहण करो तथा उसका प्राणपण से पालन करो ताकि आत्मिक उन्नति की दिशा में भी अग्रसर बन सको–साधुजी ने उसे नई प्रेरणा की।

अकिंचन लकड़हारा निपट अबोध था। वह प्रतिदिन अपने साथियों के साथ वन में जाता, लकड़ियाँ काट कर लाता, उन्हें बेचता और अपना व अपने परिवार

का निर्वाह चलाता था। यही उसका आय स्त्रोत था। वह कम्पिलपुर में प्रसन्न था, क्योंकि वहाँ का शासक राजा रिपुमर्दन अत्यन्त नीति निपुण एवं प्रजा वत्सल था। उसने उत्तर दिया-गुरुदेव-मैं अधिक तो कुछ समझता नहीं, किन्तु कभी-कभी मेरा मन भी करता है कि कुछ धर्म कार्य भी करना चाहिए। किन्तु क्या करूँ, यह विचार मन ही मन में रहकर डूब जाता है। सुबह जल्दी लकड़ियाँ काटने जंगल की ओर निकल जाता हूँ, दोपहर बाद उधर से लौटता हूँ, फिर घड़ाई का काम करता हूँ और इस तरह देखते ही देखते पूरा दिन बीत जाता है। धर्मकार्य के लिए तो समय ही नहीं बचता। अब आप ही बताइए कि कैसे-क्या करूँ?

भाई अकिंचन, धर्मकार्य कई प्रकार से किए जा सकते हैं। स्वयं अपने इस निर्वाह कार्य में भी तुम धर्म का पालन कर सकते हो? उसके लिए किसी अलग समय की आवश्यकता नहीं। वास्तव में धर्म इस सारे जीवन से जुड़ा हुआ ही होना चाहिए-वह अलग से आचरणीय नहीं। धर्म का सच्चा सम्बन्ध भावना और त्याग से होता है और उसका आचरण कोई न कोई व्रत-नियम ग्रहण करके जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में किया जा सकता है।

तो फिर मुनिराज, मुझे कोई भी एक धार्मिक

नियम दिला दीजिए, मैं उस का कठोरतापूर्वक पालन करूँगा।

क्या तुम यह नियम ले सकोगे कि कभी भी हरे वृक्ष को न काटो। केवल सूखी हुई लकड़ी से ही अपना काम चलाओ।

हाँ, महाराज यह नियम मैं निभा लूंगा, आप दिला दीजिए।

अच्छी तरह से सोच लो अकिंचन, कभी सूखी लकड़ी बहुत कठिनाई से मिले या न मिले तो तुम्हें कष्ट सहने के लिए भी तत्पर रहना पड़ेगा।

कोई बात नहीं, गुरुदेव, इस नियम का मैं दृढ़ रहकर पालन कर लूंगा-लकड़हारे के पक्के आश्वासन पर साधुजी ने उसे हरी लकड़ी काटने का त्याग करा दिया।

इस नियम को ग्रहण कर लेने के बाद अकंचन केक हृदय में विवेक ने जन्म ले लिया और वह प्रतिदिन जागरूक होता गया। प्रतिदिन वह अपने साथी लकड़हारों के साथ लकड़ियाँ काटने जाता जरूर, किन्तु अपनी आँखें खुली रखता-अपने विवेक को जागृत रखता। प्रत्येक वृक्ष को देखता कि कहीं उसमें हरापन तो नहीं है-बिल्कुल सूखी लकड़ी ही वह काटता। परिश्रम अधिक होता, उसकी वह चिन्ता नहीं करता।

अधिक परिश्रम के बाद भी कम लकड़ी मिलती, लेकिन वह उससे भी संतुष्ट रहता।

अकिंचन के लिए कष्ट का समय तब शुरू हुआ जब वर्षा ऋतु आई। वर्षा से सब कुछ हरा भरा होने लगा और चारों ओर हरियाली फैलती गई। अब उसे काफी खोजबीन करने के बाद भी सूखी लकड़ी का मिलना कठिन हो गया। अपने साथियों को छोड़कर वह दूर तक चला जाता किन्तु उसे सूखी लकड़ी मिलती तभी उसे काटता और घर लाता। धीरे-धीरे सूखी लकड़ियों का मिलना अतीव कठिन होने लगा और उसका निर्वाह मुश्किल से चलने लगा। कई बार उसे व उसके परिवारजनों को भूखे पेट भी रह जाना पड़ता।

एक तरफ से उसके व्रत की दृढ़ता का वह परीक्षा काल हो गया-कष्टों का क्रम बढ़ता ही रहा। एक दिन तो दूर-दूर तक उसे एक भी सूखी लकड़ी नहीं दिखाई दी। निराशा ने उसके मन मस्तिष्क को घेर लिया। वह चिन्तित हो उठा, फिर भी व्रत भंग करने का उसका तनिक भी विचार नहीं हुआ, बल्कि कष्ट उसकी व्रत-दृढ़ता को परिपक्व बनाते गए।

अकिंचन के कदम थमे नहीं। निराशा उसे वहीं रोक नहीं पाई। विवेक ने उसे उत्साहित बनाया और वह वन की गहराई में आगे से आगे बढ़ता गया। लम्बी दूरी

तक चलने के बाद उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसे सूखी लकड़ियों का एक ढेर दिखाई दिया और लकड़ियाँ भी ऐसी निरोग कि जिनसे किसी कलापूर्ण कृति का निर्माण किया जा सके। उसका मन भांति-भांति की कृति-कल्पनाओं से भर उठा और उसने वैसी लकड़ी की प्राप्ति को अपने व्रत पालन का ही सुफल समझा। उसने उस ढेर में से अच्छी लकड़ियों का चुनाव किया तथा उनका गट्ठर बांध लिया। जब वह गट्ठर उठाकर लम्बी दूर पार करने के लिए घर की ओर चला तब आगे के कठिन परिश्रम से उसका मन घबराया नहीं-उत्साह ने उसमें एक अनूठी शक्ति का संचार कर दिया।

उसके कदम घर की दिशा में तेजी से बढ़ने लगे और उससे भी अधिक तेजी से उसके मन में नवीन कृति के सम्बन्ध में विचार मण्डराने लगे। वह सोचने लगा-यदि उन साधुजी ने उसे हरी लकड़ी न काटने का व्रत नहीं कराया होता तो क्यों वह इस गहन वन में आता और कैसे उसे सुन्दर काष्ठ कलाकृति बनाने के लिए इतनी अच्छी लकड़ी प्राप्त होती? यह उसके लिए धर्म का ही प्रसाद है।

वह सोचता रहा और चलता रहा। उसने निश्चय किया कि वह कड़ी मेहनत करके उस लकड़ी से ऐसे

अद्‌भूत पलंग का निर्माण करेगा जो रहस्यपूर्ण तो होगा ही, किन्तु काष्ठ कला की अमूल्य कृति के रूप में सदैव याद किया जाएगा। उसके मन में यह भी आशा जगी कि उस पलंग के विक्रय मूल्य से उसको इतना पर्याप्त धन मिल जाएगा, जिससे वह अपना शेष जीवन सम्पूर्णतया धर्म कार्य में लगा सकेगा। उसने धार लिया कि यह कलाकृति उसके जीवन की अन्तिम कृति होगी और बहुमूल्य ही नहीं, अपनी अकल्पनीय गुणवत्ता की दृष्टि से अमूल्य भी होगी।

वह व्रतिनिष्ठ लकड़हारा कब घर के द्वार पर जा खड़ा हुआ, उसे कुछ पता ही नहीं चला। सूर्य ढलने लगा था और उसकी चिन्तातुर पत्नी उसकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए द्वार पर ही खड़ी थी, उसके पहुँचते ही बोली –आज बहुत देर हो गई, क्या बहुत दूर तक जाना पड़ा?

हाँ प्रिये, आज तो मैं लम्बी दूर तक गहन वन में चला गया था। वहीं से मुझे ये लकड़ियाँ मिली हैं–अकिंचन ने उत्तर दिया।

इतने कष्ट के कारण व्रत पालन के प्रति क्या आपका मन विचलित तो नहीं हुआ? सचमुच कष्टों में ही दृढ़ता की परीक्षा होती है।

कैसी बात करती हो? आज तो मुझे व्रत पालन का सुफल भी मिल गया है। व्रत पालना में कभी कोई दुर्बलता मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई।

यही तो मेरा सौभाग्य है।

प्रिये, आज का सौभाग्य तो अनुपम है। ये इतनी अच्छी लकड़ियाँ मिली हैं कि इनसे मैं सर्वश्रेष्ठ कलाकृति का निर्माण करूँगा और शायद उससे हमारे जीवन का उद्धार ही हो जाए।

तुरन्त अकिंचन ने अपनी अद्‌भुत कलाकृति का निर्माण आरम्भ कर दिया। वह जी-जान से उसमें जुट गया। उसने वृहदाकार पलंग बनाया तथा उसके चारों कोनों पर चार सुन्दर पुतलियाँ भी खड़ी की। जब वह पलंग बनकर तैयार हो गया तो उसकी शोभा देखते ही बनती थी। उसने उस पलंग को अपनी पत्नी को देकर कहा कि वह बाजार में जाकर उसे बेच आए। परन्तु उस पलंग का मूल्य सवा लाख स्वर्ण मुद्राएँ होगा-इससे एक रूप्यक भी कम नहीं लेना है।

उसकी पत्नी उस पलंग को लेकर बाजार में पहुँची। उस पलंग को देखते ही भीड़ इकट्‌ठी हो गई और लोग उसकी सराहना करते लगे। किन्तु ज्योंही उसका मूल्य वे सुनते, उनके चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती और वे मुँह लटकाए वहाँ से खिसक जाते। दिनभर लोग आते रहे और निराश होकर जाते रहे। लोगों की उस पलंग को लेने की इच्छाएँ तो बहुत ललचाती, किन्तु मूल्य सुनकर वे सन्न रह जाते। निराश लोग भी

हो रहे थे तो निराश उस लकड़हारे की पत्नी भी हो रही थी कि यदि यह पलंग नहीं बिका तो क्या होगा?

पलंग की प्रशंसा राजा रिपुमर्दन के कानों तक पहुँची। उसने विचार किया कि जब सभी लोग इस पलंग की इतनी अधिक प्रशंसा कर रहे हैं तो अवश्य ही उसमें कोई न कोई अद्‌भूत विशेषता होगी, तभी तो कलाकार ने उसका इतना अधिक मूल्य निर्धारित किया है और राजा होकर उस कला का सम्मान भी तो करना चाहिए।

राजा ने अपने मंत्री को बुलाया और कहा-मंत्रीजी, मैंने सुना है कि आज बाजार में एक विशिष्ट पलंग बिकने को रखा हुआ है, किन्तु उसके अधिक मूल्य के कारण उसको कोई खरीद नहीं पा रहा है, क्या यह सही है?

हाँ राजन्, वह पलंग अपने ही नगर के अकिंचन लकड़हारे ने बनाया है।

तो आप मेरी ओर से खरीद लीजिए और सवा लाख स्वर्णमुद्राएँ उसके मूल्य रूप में चुका दीजिए।

जो आज्ञा-कहकर मंत्री वहाँ से चला गया।

शाम धुंधलाने लगी तो अकिंचन को पत्नी का मन भी धुंधलाने लगा कि उस पलंग के बिकने की अब क्या आशा है? वह जानती थी कि उसके व्रतनिष्ठ पति ने विशिष्ट लक्ष्य के साथ उसका निर्माण किया है। यदि यह नहीं बिका तो उनके मन पर क्या गुजरेगी? वह चिन्ता में सुधबुध खोई-सी सोच ही रही थी कि

जैसे मंत्रीजी ने उसे सोते से जगाया–अरे, क्या पलंग बेचना नहीं है?

क्यों नहीं, बेचने ही के लिए तो लाई हूँ? पर इसका मूल्य सवा लाख स्वर्णमुद्राओं से एक कानी कौडी भी कम नहीं होगा।

सो हम जानते हैं। यह लो सवा लाख स्वर्णमुद्राएँ–पूरी हैं। राजा रिपुमर्दन उसे खरीद रहे हैं।

लकड़हारे पत्नी से स्वर्णमुद्राओं की थैली ली और खुशी से पागल–सी होकर घर की राह पकड़ी। अकिंचन भी प्रसन्नता से भर उठा कि अब उसके पावन लक्ष्य की अवश्यमेव पूर्ति हो सकेगी। उसने अपनी पत्नी से कहा–प्रिये, इस धन से जीवन पर्यन्त अपना निर्वाह सुखपूर्वक हो सकेगा, अतः सांसारिक कार्यों से छुटकारा लेकर हम पूर्णरूप से धर्मकार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ। मैं तो यही चाहती थी प्रिय–कहते हुए उसने अपने पति के चरणों में अपना मस्तक रख दिया। अकिंचन आराधक बन गया।

उधर राजा ने उस खरीदे गए पलंग को सुरक्षित रूप से रख देने का आदेश दे दिया। उसके बाद वह भूल भी गया कि उसने कोई पलंग कभी खरीदा था।

एक रात किन्हीं शासकीय समस्याओं से मन चिन्तित एवं व्यथित रहने के कारण राजा रिपुमर्दन को नींद नहीं आ रही थी और तरह–तरह के विचार उठ रहे

थे। विचारों की उसी आंधी में खरीदे गए उस पलंग का विचार भी उठ खड़ा हुआ। उसने तत्काल उस पलंग को अपने शयन कक्ष में मंगवाया। जब तक सेवक उस पलंग को लाकर शयन कक्ष को पुनः सज्जित करने का कार्य कर रहे थे, तब तक राजा छत पर खुली चाँदनी में घूमता रहा और नाना-नाना प्रकार के विचारों में उलझता रहा। सेवक कार्य पूरा करके जा चुके थे किन्तु राजा भ्रमण करता ही रहा। जब उसे भीतर जाने की सुध आई तो उसकी इच्छा प्रबल हो उठी कि वह उस पलंग पर सोकर देखे ताकि उसे उसकी अद्‌भूत विशेषता का ज्ञान हो सके।

रिपुमर्दन तीव्र गति से शयन कक्ष में प्रविष्ट हुआ तथा उस पलंग की ओर बढ़ा। उसे दिखाई दिया कि उस पलंग पर कोई पहले से ही सो रही है। उसने सोचा-वह रानी ही हो सकती है, जो पलंग पर उससे भी पहले उपस्थित हो गई है। दीपक के मद्धिम प्रकाश में उसने देखा कि रानी निद्राधीन हो गई है। उस समय उसकी माधुरी राजा को अति ही आकर्षक प्रतीत हुई तथा उसने शीघ्र ही रानी के अंक में पलंग पर सोने की चेष्टा की। राजा ने पलंग की ओर बढ़ा ही था कि पलंग के चारों कोनों पर लगी चार पुतलियों में से एक पुतली उड़ी। उसने पलंग की तीन बार परिक्रमा की और

कहा–राजन् अभी तुम्हारी पलंग को स्पर्श करना तक श्रेयस्कर नहीं है। एक भयंकर विपत्ति तुम्हारे सिर पर मण्डरा रही है, पहले उससे बचो।

कौनसी विपत्ति है, मुझे तुरन्त बताओ–राजा ने पूछा।

इस समय तुम्हारे राजकोष में चोर घुस रहे हैं यदि तुमने तुरन्त पहुँच कर उन्हें नहीं भगाया तो वे राजकोष का सम्पूर्ण धन चुरा ले जाएंगे।

राजा नेआश्चर्य से पुतली की ओर देखा और उसने अनुभव किया कि यह पलंग वस्तुतः अद्‌भूत है। वह नंगी तलवार लेकर राजकोष की ओर भागा। हकीकत में चोर उसमें घुसने ही वाले थे। उसने उन्हें वहाँ से भगाया और पुनः अपने शयन कक्ष में प्रवेश किया।

पुनः वह पलंग की ओर बढ़ा तो दूसरी पुतली उड़ी। वह भी पलंग की तीन परिक्रमा करके बोली–ठहर जाओ राजन्, अभी अभी एक आपत्ति तुम्हारे अभी उतारे जूतों में बैठ गई है–वह है उग्र विषधारी तम्बोली सर्प। तुम्हारे जूते नीचे नाल में खुले हुए हैं, सेवक को बुलवाकर वहाँ से सर्प को दूर कराओ। अनजाने में वह तुम्हारे प्राण ले लेगा। राजा ने सर्प को जूतों से निकलवा कर बाहर फेंकवा दिया।

पुनः राजा पलंग की ओर बढ़ा तो पलंग की तीसरी पुतली उड़ी। वह बोली–राजा, सोने के लिए

उतावले क्यों हो रहे हो? पहले अपने संकटों को तो दूर कर लो।

दो संकट तो समाप्त कर चुका हूँ। क्या अभी और भी कोई संकट बाकी रह गया है? बताओ, उसे भी बता दो। उसका भी सफाया कर देता हूँ-राजा ने झुंझलाकर कहा।

राजन्, जहाँ तुम्हारा सबसे प्रिय अश्व बंधा हुआ है, वहाँ की दीवार गिरने ही वाली है। यदि तुम अभी भाग कर जाओगे और अपने अश्व को खोलकर बाहर निकाल लोगे, तभी उसे बचा सकोगे।

पुतली के कथन में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था। दो पुतलियों की बातें सच निकल चुकी थी तो भला तीसरी पुतली की बात झूठ क्यों निकलेगी? और वह अश्व तो उसे बहुत ही प्रिय है-उसकी जान बचाने के लिए तो वह अपनी जान पर भी खेल सकता है।

राजा ने आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि ज्योंही उसने अपने अश्व को वहाँ से खोलकर बाहर निकाला, त्योंही दीवार गिर गई। राजा उस संकट से भी बच गया।

अब तो राजा उस पलंग पर सोने के लिए बेचैन हो उठा। एक तो उसे बुरी तरह से नींद आ रही थी तथा दूसरे उसकी उत्सुकता की सीमा पार कर रही

थी कि इस पलंग पर सोने से क्या घटित होता है और अभी चौथी पुतली का क्या काम बाकी है? सिर्फ घड़ी दो घड़ी ही रात शेष थी, इसलिए वह तेजी से पलंग की ओर बढ़ा, लेकिन यह क्या? चौथी पुतली ने उसे रोक दियाँ वह उड़ी और बोली-राजा, अभी तेरे संकटों की समाप्ति नहीं हुई है। पहले तुम अपनी नव-विवाहिता राजकुमारी की खोज करो, उसका पता नहीं चल रहा है।

और पलंग की चौथी पुतली भी उड़ गई। राजा चिन्तित होकर अपनी राजकुमारी को खोजने कक्ष से बाहर निकला ही था कि सामने से भागकर आती हुई रानी को उसने देखा। वह स्तब्ध रह गया। रानी तो भीतर उस पलंग पर सो रही थी-यही मैंने समझा था, फिर उस पलंग पर कौन सो रही है? उसका माथा ठनका, जाकर देखा-वही राजकुमारी थी। राजा ने राहत की साँस लेते हुए कहा-उन पुतलियों ने मुझे तीन संकटों से ही नहीं बचाया, बल्कि पुत्री के साथ घोर अनाचार करने से भी बचा लिया। उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा-इस पलंग का मूल्य कुछ भी नहीं, यह अमूल्य है। धन्य हो कलाकार अकिंचन!

स्त्रोत-ग्रन्थ।

सार-धर्म के प्रसाद से सबका कल्याण होता है।

नंगी तलवार के नीचे

भगवन् एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ-हाथ जोड़कर विनीता नगरी के एक स्वर्णकार ने भगवान् ऋषभदेव से निवेदन किया।

विनीता निवासी यह स्वर्णकार भगवान् का भक्त था तथा अल्पारम्भ एवं अल्प-परिग्रह का ज्ञान रखता था। उसका विश्वास था कि परिग्रह की अपने पास रखी मात्रा को जिस रूप में अल्प करते जाएंगे, उस रूप में उस परिग्रह के प्रति मन में रहा हुआ मोह भी घटता जाएगा। वह बाह्य परिग्रह की मात्रा से मन के मोह को जोड़ कर चलता था। बाह्य परिग्रह की विपुलता में भी मन कैसे निरपेक्ष एवं निस्पृह रह सकता है-इसका उसे न ज्ञान था और न अनुभव। इसी दृष्टि से उसका यह भी मानना था कि जिसका आरम्भ (बाह्य जीवन में हिंसापूर्ण कार्यों का क्रम) अल्प होता है, वही मुक्ति की

दिशा में गतिशील बनता है। अन्तर्मन की गहराइयों से वह अनभिज्ञ था। अपनी इस मान्यता की तुला पर ही वह अपने जीवनक्रम को तौलता हुआ समझता था कि वह निरन्तर मुक्ति की ओर गति कर रहा है।

भगवान् तो उस स्वर्णकार के मन में रहे हुए को जान गए थे, फिर भी उसके ही मुख से कहलवाने के लिए बोले–कहो, देवानुप्रिय!

प्रभु, मेरी मुक्ति पहले होगी या षट्खंडाधिपति भरत की?

भगवान ऋषभदेव ने स्पष्ट उत्तर दिया–पहले मुक्ति भरत की होगी।

यह उत्तर सुनकर वह स्वर्णकार झुंझला उठा और कहने लगा–यह कैसी बात है, भगवन्? मैं इतना अल्प परिग्रही एवं अल्पारम्भी, फिर भी मेरी मुक्ति से पहले भरत महाराज की होगी, जो महापरिग्रही एवं महारम्भी है?

मैंने कहा वही सत्य है–प्रभु इतना ही बोले।

वह स्वर्णकार वन्दना करके वहाँ से चल दिया, किन्तु उसका मन भांति–भांति की शंकाओं से घिर गया–मैं अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रति कितना विवेकशील हूँ, जो निरन्तर अपने पास के परिग्रह की मात्रा को घटाता हुआ आ रहा हूँ और आरम्भ को

संकुचित बना रहा हूँ। फिर भी भगवान ने मुझे मुक्ति का प्रथम अधिकारी नहीं बताया और उन्होंने वह अधिकार बताया अपने पुत्र भरत का, जिसके पास चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि का कोई ओर छोर नहीं तथा जिसके आरम्भ का तो हिसाब लगाना ही कठिन है-चारों ओर हिंसापूर्ण कार्यों की धूम मची हुई है। यह तो भगवान् का ज्ञान नहीं बोला-उनका पुत्र मोह बोल गया। स्वर्णकार का शंकाकुल मन अपनी विचारणा में इतने नीचे स्तर तक गिर गया।

स्वर्णकार का मन ही पतित नहीं हुआ, उसका वचन और कर्म भी पतित होने लगा। स्थान-स्थान पर वह इसको कहता फिरता, भरत चक्रवर्ती पर महा परिग्रह तथा महारम्भ के आरोप लगाता तथा भगवान के उस कथन को पक्षपाती बताता। नगरी में चारों ओर इसी बात की चर्चा चलने लगी। नागरिकों में सभी प्रकार के लोग होते हैं, इस दृष्टि से इस चर्चा के पक्ष और विपक्ष के दो रूप बन गए। कुछ लोग भी यह कहने लगे कि भरत महाराज सामने ही महापरिग्रही और महारम्भी हैं, फिर भी उनकी प्रथम मुक्ति की बात संगत नहीं लगती। वे इस मामले में स्वर्णकार के पक्ष की बात भी कहने लगे। जब यह चर्चा चलती हुई भरत महाराज के कानों तक पहुँची तो वे यकायक विचार में पड़ गए, वे अपने

अर्न्तहृदय की वास्तविकता से परिचित थे, अतः भगवान का कथन उन्हें पूर्ण सत्य प्रतीत हुआ किन्तु उनको विचार आया इस बात का कि गहरे ज्ञान के अभाव में वह स्वर्णकार और उसके साथ कुछ नागरिक भगवान के कथन को और उनकी सर्वज्ञता को ही लांछित करने की कुचेष्रूटा कर रहे थे, अतः इन लोगों को वास्तविकता का ज्ञान कराना अत्यावश्यक है।

भरत महाराज ने सैनिकों को भेजकर उस स्वर्णकार को सभा भवन में प्रस्तुत करने का आदेश दिया।

सभा भवन खचाखच भरा हुआ था। सभी राज्याधिकारी एवं प्रमुख नागरिक यथास्थान बैठे हुए थे और सिंहासन पर आसीन थे भरत महाराज। सभी की दृष्टि भरत महाराज पर लगी हुई थी कि राज्य सभा की इस बैठक का प्रयोजन क्या है? जो ज्यादा गहराई तक नहीं सोच पा रहे थे, वे यही समझ रहे थे कि अनुचित निन्दा करने के लिए उस स्वर्णकार को दण्ड दिया जाएगा, लेकिन अपनी ही निन्दा के दण्ड का निर्णय स्वयं महाराज कैसे करेंगे और क्या वह न्यायोचित दिखाई देगा? वस्तुतः कोई नहीं सोच पा रहा था कि भरत महाराज क्या करेंगे?

महाराज की जय। आज्ञा हो तो उस स्वर्णकार को भीतर प्रस्तुत किया जाए-प्रतिहारी ने कहा।

हाँ, ले आओ-भरत ने संकेतात्मक रूप में ही उत्तर दिया।

जब स्वर्णकार भीतर लाया गया और भरत महाराज के सामने खड़ा कर दिया गया तो उन्होंने शान्ति एवं स्नेह के साथ स्वर्णकार से पूछा-भद्र, क्या तुमने सर्वज्ञ भगवान के वचनों में भी शंका की है?

स्वर्णकार थोड़ी देर तक निश्चल खड़ा रहा, फिर यकायक बोला-शंका की तो बात ही है महाराज, जो सामने प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, उसे कैसे झुठलाया जा सकता है?

क्या दिखलाई दे रहा है तुमको प्रत्यक्ष में?

यही कि चक्रवर्ती पद पर हो रहे आपके महा परिग्रह एवं महारम्भ की कोई सीमा नहीं और मेरा अल्प परिग्रह तथा अल्पारम्भ तो सभी जानते हैं, फिर भी पहले मेरी मुक्ति न हो और आपकी हो-यह कैसा विषम कथन है? मुझे क्षमा करें महाराज, मुझे जो सत्य लग रहा है, वह तो मैं कहूँगा ही-चाहे उसके लिए मुझे कैसा भी दण्ड भुगतना पड़े।

अच्छा-भरत महाराज ने कहा और अपने सेवक को आज्ञा दी-जाओ, एक कटोरा तेल का ऐसा लबालब भरकर लाओ जिसमें एक बून्द भी और तेल समाने की गुंजायश न हो।

जो आज्ञा महाराज-सेवक ने कहा और वह भीतर चला गयाँ सारे सभासद विस्फारित नयनों से देखते रहे कि यह क्या हो रहा है?

तब भरत महाराज ने मंत्री को आदेश दिया-देखो, सारे नगर में सुन्दर सजावट कराओ, हर चौराहे पर नृत्य और नाटकों का आयोजन रखो तथा नाना प्रकार के मनोरंजनों की व्यवस्था करो। यह प्रबंध तुरन्त होनाचाहिए और ध्यान रहे कि ये आयोजन स्वर्गलोक के समान आकर्षक हों। नर्तकियों के समूह इतने रूपवान और सुन्दर हों कि पहली ही नजर में दर्शक का मन मुग्ध हो जाए। सारे नगर की चहल-पहन दर्शनीय बन जाए।

ऐसी सारी आकर्षक रचना शीघ्रातिशीघ्र हो जाएगी महाराज-मंत्री ने कहा और तुरन्त वह वहाँ से चला गया।

तदनन्तर भरत महाराज ने सेनापति को आज्ञा दी-एक अत्यन्त क्रूर एवं बलिष्ठ सैनिकों को यहाँ बुलाइए, जो अपनी नंगी तलवार साथ लेकर आए।

अभी उपस्थित करता हूँ, राजन् और सेनापति भी सभी भवन से बाहर चला गया।

तेल का कटोरा ले आया हूँ महाराज-सेवक ने निवेदन किया।

सावधानी से पीठिका पर रख दो।

महाराज की जय हो, आज्ञानुसार सैनिक सेवा में प्रस्तुत है-सेनापति ने निवेदन किया।

यहाँ आओ सैनिक-महाराज ने सैनिक को अपने पास बुलाया। जोर से उसे कहा-देखो, आज जो काम तुम्हें सम्हलाया जा रहा है, उसको तुम्हें पूरी सावधानी और यहाँ तक कि निर्दयतापूर्वक पूरा करना होगा.....

महाराज, आज्ञानुसार सारे नगर में अद्‌भूत सज्जा एवं नृत्य, नाटकों के आयोजन का कार्य सम्पन्न हो चुका है तथा सर्वत्र नयनाभिराम नृत्य-नाटक हो रहे हैं-मंत्री ने लौटकर सूचना दी।

हाँ तो स्वर्णकार, इधर देखो-भरत महाराज ने कुछ उग्रता के साथ सम्बोधित किया-पीठिका पर जा तेल का कटोरा रखा हुआ है, उसे उठा लो।

स्वर्णकार ने तेल से लबालब भरा वह कटोरा जब दोनों हाथों से उठा लिया तो महाराज पुनः बोले-यह कटोरा इसी तरह हाथ में उठाए तुम्हें सारे नगर का भ्रमण करके पुनः मेरे पास आना होगा। हाँ, यह पक्का ध्यान रखना होगा कि इस कटोरे से तेल की एक बून्द भी बाहर छलकने न पाए। यह सैनिक नंगी तलवार लिए तुम्हारे पीछे-पीछे चलेगा, ज्योंही कटोरे से तेल की बून्द छलकी कि यह तुम्हारा सिर तुरन्त धड़ से काटकर फैंक देगा। ध्यान रहे, एक बून्द तेल के नीचे छलक

जाने का अर्थ होगा तुम्हारी तत्काल मृत्यु। नंगी तलवार के नीचे ठहरा रहेगा तुम्हारा जीवन।

फिर मुड़कर सैनिक से बोले-सुन लिया न तुमने तुम्हारा क्या काम होगा? यह काम उत्तरदायित्व पूर्ण है और तुम्हारी जरा-सी भी चूक क्षमा नहीं की जाएगी। इधर बून्द छलके और उधर तुम्हारी तलवार इस स्वर्णकार के गले के पार हो जानी चाहिए-किन्तु कुशलतापूर्वक कनखियों से उन्होंने उस सैनिक को समझा दिया कि वास्तव में स्वर्णकार को मारना नहीं है, पर आतंक पूरा बनाए रखना है।

❑ ❑ ❑

फिर जैसे ही जुलूस चला। आगे-आगे स्वर्णकार हाथों में तेल का लबालब भरा कटोरा लिए हुए था-कम्पित शरीर को वह बड़ी कठिनाई से सन्तुलित किए हुए था। आँखें एकटक कटोरे पर लगी हुई थी और पैर सतत् सावधान कि किसी भी हालत में तेल की बून्द बाहर न छलक पड़े। नंगी तलवार के नीचे चलते हुए उसका भीतर-बाहर आतंक की काली छाया से ग्रस्त था। ठीक उसके पीछे चल रहा था सर्वाधिक ऊँचाई और विकराल रूप वाला सैनिक जिसकी नंगी तलवार कालिका की लपलपाती जिह्वा की तरह चमचमा रही थी। पीछे चल रहा था जन समूह, पक्ष-विपक्ष की अब तक चर्चा

चलाने वाला और अब उस चर्चा का परिणाम जानने को उत्सुक तथा अधीर।

प्रत्येक चौराहे और मोड़ पर जो मनोहारी नृत्य एवं नाटक प्रदर्शित हो रहे थे, उनकी तरफ स्वर्णकार की एक भी बार आँख नहीं उठी-ध्वनि सुनकर मन भी हुआ किन्तु आनंक ने तुरन्त उसको दबोच दिया। स्वर्णकार की आँखें कटोरे से हटती ही नहीं थी और सैनिकों ने भी अपनी आँखें कटोरे पर ही केन्द्रित कर रखी थी। उसके हाथ इस तरह सन्नद्ध दिखाई देते थे कि इधर कटोरे से बून्द छलके तो उधर हाथ सक्रिय हो जाए। जन-समूह नृत्य नाटक भी देखता जा रहा था तो स्वर्णकार-सैनिक को भी, पर उसके आश्चर्य की सीमा नहीं थी।

स्वर्णकार के साथ सैनिक नगर की परिक्रमा पूरी करके पुनः सभा भवन की परिक्रमा पूरी करके पुनः सभा भवन में पहुँचा, महाराज का जयकार किया और बोला-मैं स्वर्णकार को ले आया हूँ महाराज, मार्ग में कटोरे से एक भी बून्द नीचे नहीं छलकी है।

तब राज्य सभा की उपस्थिति बहुत बढ़ गई थी। सामान्य नागरिकों को भी प्रवेश दे दिया गया था और सभी यह जानने और देखने को उत्सुक हो रहे थे कि अब स्वर्णकार के साथ क्या घटित होगा?

सभा में सन्नाटा छाया हुआ था। सन्नाटे को तोड़ते हुए भरत महाराज ही बोले-भाई स्वर्णकार, तुम अपने मिशन में सफल रहे कि तेल की एक भी बून्द कटोरे से नीचे नहीं छलकी पर यह बताओ कि नगर के किस चौराहे पर कैसा नृत्य और नाटक हो रहा है और नगर की साज-सज्जा कैसी हुई है?

वह तो मुझे कुछ नहीं मालूम, मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

क्या मूर्खता की बात करते हो? सर्वत्र स्वर्ग तुल्य नाटक और नृत्य हो रहे थे, सुन्दरियों का सौन्दर्य बिखरा पड़ा था तथा सुभग दृश्यावलियाँ सब ओर उपस्थित थी, तब भी तुम कहते हो कि तुमने कुछ नहीं देखा। तुम्हारी इस झूठी बात को मैं कैसे मान लूँ।

मैं पूर्ण सत्य निवेदन कर रहा हूँ महाराज कि मुझे किसी नृत्य, सौन्दर्य या दृश्य का कोई ध्यान नहीं है-मेरा तो सम्पूर्ण ध्यान एवं एकाग्र दृष्टि तेल के कटोरे पर ही केन्द्रित रही।

ऐसा कैसे हुआ स्वर्णकार भाई, महाराज ने स्नेहिल स्वर में पूछा।

क्या पूछते हैं महाराज? जो नंगी तलवार के नीचे यानी कि प्राणों के भय से आतंकित होकर चल रहा हो, क्या वह किसी नृत्य या नाटक की तरफ देख

भी सकता है? प्राण रहें तो नृत्य नाटक की ओर ध्यान मुड़े। सारे देवोपम-नृत्य नाटक भले ही मेरी दृष्टि के सामने थे किन्तु मेरा सम्पूर्ण ध्यान तो तेल के कटोरे पर ही केन्द्रित था क्योंकि उसी के साथ मुझे महसूस हो रही थी नंगी तलवार की तीक्ष्ण धार-स्वर्णकार एक ही साँस में यह सब कह गया।

तो भाई अब मेरी अवस्था को समझो। नृत्य नाटकों की तरह चक्रवर्ती की अपार ऋद्धि-सिद्धि मेरे चारों ओर बिखरी पड़ी है और तुम्हारी समझ से महापरिग्रह एवं महारम्भ भी फैला हुआ है किन्तु मैं तुम्हारे समान अपने अनासक्त जीवन का कटोरा हाथों में लिए चल रहा हूँ, क्योंकि मुझे उस नंगी तलवार की तरह जन्म-मरण की परम्परा का भय है। यही मेरी अनासक्ति का रहस्य है। अब तो इस रहस्य को तुम भली-भांति जान ही नहीं, अनुभव भी कर चुके हो।

हाँ महाराज, यह जानकर ही मैं अपने पाप का प्रायश्चित करना चाहता हूँ कि मैंने सर्वज्ञ भगवान के वचन में शंका की तथा आपको आरोपित किया।

स्त्रोत-

सार-अन्तर्मन से ही आसक्ति का अनुभव लेना चाहिए।

❖ ❖ ❖

सारा शरीर सन गया, पर.....

ऐसा था नंदीषेण अपने बचपन में। माता-पिता दोनों की मृत्यु हो गई तथा वह अनाथ हो गया। स्वयं अपने शरीर से इतना कुरूप कि कोई उसे देखते ही नाक भौं सिकोड़ लेता। बुद्धि के अभाव की ऐसी दशा कि कोई भी सहज ही में बुद्धिहीन सिद्ध कर देता।

ऐसी स्थिति में यौवन की देहरी पर अपना कदम बढ़ा देने के बावजूद भी उसे परिणय में अपनी कन्या कौन दे? और ऐसी कन्या भी कहाँ मिलती जो उसे अपने जीवन साथी के रूप में पसन्द कर ले? इस तरह युवक नन्दीषेण के जीवन में यह दु:खदायी मानसिक पीड़ा और जुड़ गई। एक पल के लिए भी उसे चैन नहीं मिलता-क्या करे वह? कहाँ जाए और कैसे अपना जीवन जीए? पीड़ा की गहनता घोर निराशा देती है और वह हताश हो उठा।

नंदीषेण की हताशा में चमकी थी आशा की एक क्षीण रेखा। मामा ने दया खाकर अपनी सात पुत्रियों में से एक पुत्री विवाह में उसे देने का विचार किया। नंदीषेण को हर्ष हुआ कि उसका जीवन सँवर जाएगा-उसमें जीने का कुछ उत्साह जागा। किन्तु उसके दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा। मामा की कन्याओं ने अपने पिता के प्रस्ताव का कठोर विरोध किया, अन्ततः उसके विवाह की वह क्षीण आशा भी समाप्त हो गई।

इस अवस्था ने उसके हृदय को ग्लानि से भर दिया और नित नवीन कुण्ठाएँ उभरने लगी। धीरे-धीरे वह विक्षिप्त-सा होने लगा और उसी मानसिकता में उसने पहाड़ की चोटी से नीचे गिरकर आत्महत्या करने का निर्णय ले लिया।

रुक जाओ युवक! यह क्या अधर्म कर रहे हो?

नंदीषेण स्तब्ध रह गया कि इस क्रूर संसार में ऐसा कौन अपना निकल आया है जो उसे अपने जीवन का अन्त करने से रोक रहा है। उस आवाज में भी अनुराग मिश्रित ऐसी मधुरता था कि उसके पैर वहीं ठिठक गए। वह चारों ओर देखने लगा-कौन है वह महापुरुष, जो उसका त्राण करने के लिए उसे पुकार रहा है?

फिर वही मधुर आवाज आई-भाई, मनुष्य जीवन अतीव दुर्लभ होता है-बड़ी कठिनता से प्राप्त

होता है और तुम उसे यों नष्ट करके क्या अपने घोर अज्ञान का ही परिचय नहीं दे रहे हो?

नंदीषेण के ज्ञान तन्तुओं को झटका लगा। जिस दिशा से आवाज आई थी, उस दिशा में उसने दृष्टि फैला कर देखा। पहाड़ के नीचे तलहटी में एक तेजस्वी साधु जिनका नाम सुस्थित था, ध्यान मुद्रा में खड़े थे और वे उसी की ओर करुणा दृष्टि से देख रहे थे। उस करुणा दृष्टि में ऐसी कुछ आत्मीयता उसे दिखाई दी कि वह पशोपेश में पड़ गया–आत्महत्या कर ही डाले यानी इन साधुजी की बात सुनने के लिए इनकी सेवा में नीचे पहुँचे।

जागृत ज्ञान तंतुओं में द्वन्द्व मच गया। कुछ क्षणों के लिए वह कुछ भी निश्चय नहीं कर सका, किन्तु उसके बाद ही यह उसके लिए भी आश्चर्य का विषय बन गया कि उसने मुनि महाराज से उपदेश ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा। उसके चरण जैसे स्वत: ही चलने लगे हों–वह पहाड़ की चोटी पर से नीचे उतरने लगा।

नंदीषेण ने अपना जीवन वृत्त मुनि को सुनाते हुए रुधे कण्ठ से कहा–गुरुवर, कितना ग्लानि और कुण्ठाग्रस्त हो गया था मेरा जीवन? संसार की उतनी उपेक्षा को सहन करते हुए कोई भी अपने को जीवित रखने की अभिलाषा कर ही नहीं सकता है, फिर मैं तो

ज्ञानहीन एक अति दुर्बल पुरुष था।

दुर्बलता अपने ही मन की होती है भद्र, किसी और के मन की नहीं और अपने ही मन का संकल्प बन जाए तो वह इतना सबल हो सकता है कि सारे संसार का अकेला सामना कर ले। अपने मन को कोई और नहीं बनाता या बिगाड़ता बल्कि हम ही उसके नियंत्रक होते हैं। अपने मन की अशान्ति के लिए संसार को या किसी व्यक्ति को दोष देना व्यर्थ है। दोष देना है तो स्वयं को दो।

वह कुरुप युवक हाथ बांधे हतप्रभ-सा खड़ा रहा। यह कौन दिव्य पुरुष है जो उसके तन और मन की कुरूपता को नहीं देख रहा बल्कि उसके कुरूप मन को स्वरूववान बनाने की सुन्दर प्रेरणा दे रहा है? वह उन्हें अपना परम आत्मीय मानकर उनका उपदेश अपने हृदय में उतारने लगा।

करुणा के भण्डार, मुझ पर अपनी करुणा की वर्षा करते रहिए-इतना ही कह सका नंदीषेण अपनी सजल आँखों से उस दिव्य आकृति को देखते हुए।

शान्त हो जाओ और गहराई से सोचो युवक, यह जीवन आत्म कल्याण के लिए और अपने आत्म-कल्याण के लिए है और अपने आत्म-कल्याण के साथ लोक-कल्याण के लिए है। संसार से सुख पाने

की कल्पना मत करो, इस संसार को सच्चे सुख का संदेश देने की अभिलाषा रखो–मुनि ने हृदय परिवर्तन के तार झनझना दिए।

तो मैं क्या करुँ गुरुदेव? मुझे राह बताइए–अपनी शरण में ले लीजिए। मैं मानव जीवन की सार्थकता को समण्न और सिद्ध करना चाहता हूँ। आपकी परम कृपा ही मुझे लक्ष्य तक पहुँचा गया था, उसके भीतर में कितना बदलाव आ गया था–वह स्वयं उस पर आश्चर्यान्वित होने लगा।

तुम भी साधना पथ पर आगे बढ़ने के लिए साधु बन जाओ और मेरे साथ रहो। तुम शीघ्र ही शान्ति का रसास्वादन करने लगोगे–साधुजी ने सफल प्रेरणा दी और नंदीषेण तत्काल दीक्षित होकर साधु बन गया। इतना ही नहीं उसने अपनी सम्पूर्ण आत्मीय ऊर्जा साधुत्व की साधना में नियोजित कर दी। अपने कठोर तपश्चरण एवं संयम पालन से शीघ्र ही मुनि नंदीषेण महात्मा बन गए। उन्होंने अपने अन्तर्मन में जिस सबसे महान गुण का ऊँचा विकास साधा–वह था सेवा का गुण। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, वे अपने सेवाधर्म से तनिक भी विचलित नहीं होते थे और सेवा भी ऐसी कि जिसकी उपमा ढूंढ़ना कठिन हो जाए। अनुपम सेवाधर्म के धनी बन गए मुनि नंदीषेण। कैसा था जीवन से

हताश युवक नंदीषेण और कैसे जीवन्त बन गए मुनि नंदीषेण!

सेवाव्रती एवं तपस्वी मुनि नंदीषेण की दमकती हुई जीवन्तता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता था कि एक बार अपनी देवसभा में देवराज इन्द्र ने मुनि नंदीषेण की अनुपम सेवा की मुक्त कण्ठ से सराहना की-आज सेवाव्र की सफल साधना में मुनि नंदीषेण सबसे आगे हैं। जिस निश्चल एवं तन्मय हृदय से वे सेवा करते हैं, वैसी सार्थक सेवा करने वाला अन्य कोई नहीं है।

अधिकांश देव सदाशयी ही होते हैं परन्तु नमूना तो सभी जगह सभी तरह की वृत्तियों का मिल ही जाता है। एक देव धीरे-धीरे फुसफुसाया-यह देवराज की क्या आदत हो ई है सो जब तब मर्त्यलोक के नीच मानवों की ही प्रशंसा करते रहते हैं? प्रकट में वह खड़ा होकर बोला-देव से मानव कभी श्रेष्ठतर हो ही नहीं सकता, फिर आप यदाकदा मानव की ही सराहना क्यों करते रहते हैं?

देवराज ने प्रेमपूर्वक उत्तर दिया-देखो, देवों को सदा गुणग्राही होना चाहिए। जिसमें श्रेष्ठ गुण का विकास दिखाई दे, उन्हें उसका वन्दन और अभिवन्दन करना चाहिए-चाहे वह गुणधारी आत्मा मानवत्मा ही क्यों न हो?

मैं नहीं मानता कि किसी भी मानव के जीवन में गुणों का ऐसा उच्चतम विकास हो सकता है-देव बोला।

यह तुम्हारा निरर्थक हठ है, देव!

आप इसे हठ समझिए किन्तु नंदीषेण की आप इतनी सराहना कर रहे हैं, उसे मैं सेवाधर्म से विचलित करके दिखा दूंगा-गर्व से देव ने कहा।

तुम्हारा यह अनुचित कार्य कभी भी सफल नहीं होगा, लेकिन मर्त्यलोक से लौटकर मुझे अपने प्रयास के परिणाम से तो अवश्य ही सूचित करना-मुस्कुराते हुए देवराज बोले, परन्तु वह देव अपने पैर पटकता हुआ सभा से उठकर चला गया।

मुनि नंदीषेण गोचरी करके उपाश्रय को लौटे ही थे और पात्र फैलाकर आहार का प्रथम कवल हाथ में उठाया ही था कि एक व्यक्ति बुरी तरह से हांफता हुआ उपाश्रय में घुसा और महात्मा के सामने आ खड़ा हुआ, बोला-गुरुदेव, एक मुनि के प्राण संकट में फँसे हुए हैं। यहाँ से दो कोस दूर जंगल में वे मुनि अतिसार के रोग से पीड़ित हैं-इतना उल्टी-दस्तें उन्हें हो रही हैं कि सम्हाल पाना ही मुश्किल है। तत्काल उन्हें यहाँ नहीं लाया गया और उनकी समुचित सेवा नहीं की गई तो वे कतई नहीं बच पाएंगे। कृपा करके आपप उनकी सेवा में तत्काल पधारें।

सेवाव्रती मुनि नंदीषेण ने हाथ का कवल पुनः पात्र में डाला और आने वाले ने जो मार्ग बताया था, उसके लिए उपाश्रय से निकल पड़े। जब वे बताए हुए स्थान पर पहुँचे तो वे तथाकथित मुनि अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त दिखाई दिए-मल, मूत्र और वमन से पूरी तरह लिपे हुए अतीव घृण्य स्थिति में। दूर-दूर तक उनके शरीर व अशुचि की दुर्गंध ऐसी कि सामान्य मनुष्य एक क्षण को भी ठहर न सके।

अपने साथ लाए हुए प्रासुक जल से मुनि नंदीषेण ने उन मुनि का मल, मूत्र और वमन साफ किया, उनका शरीर पौंछा और नगर को ले जाने के लिए बड़ी सावधानी से उन्होंने उन्हें अपने कंधों पर बिठाया। वे क्या जानते थे कि वह वास्तविकता न होकर देवमाया थी। कंधों पर इतना भार मालूम हुआ कि उनके कठोर तपश्चरण से दुर्बल बना हुआ सारा शरीर ही जैसे धरती में धंसने लगा। धीरे-धीरे उन्होंने एक-दो कदम बढ़ाए ही थे कि मल, मूत्र और वमन की बौछारें उछलने लगी-सारा शरीर बुरी तरह सन गया और मार्ग पर जैसे वह अशुचि की धारा बहने लगी। दुर्गंध की भीषणता तो जैसे असह्य थी किन्तु सेवाधर्म के धनी निर्द्वन्द्व भाव से धीरे-धीरे मार्ग पर बढ़े चले जा रहे थे-कोई ग्लानि नहीं, जुगुप्सा नहीं, केवल यही लगन कि मार्ग में रोगी मुनि को उनकी ओर से तनिक भी

कष्ट न पहुँचे और उपाश्रय शीघ्रातिशीघ्र पहुँचकर उनकी पूर्ण तन्यमता से सेवाकर उन्हें स्वस्थ बनावें।

किन्तु देवरूप उन प्रचण्ड मुनि का क्या कहना? विषम भूमि पर ज्योंही उनका पैर ऊँचा नीचा पड़ता, वे चिढ़ते, झिड़कते और कस कर लात जमा देते। मुनि नंदीषेण हृदय से क्षमा मांगते हुए आगे बढ़ते रहते।

मुनि नंदीषेण का सारा शरीर मल, मूत्र और वमन के गाढ़े लेप से सन गया था। मुनि की ऐसी अद्‌भूत सेवाव्रत की दृढ़ता से देव भी अभिभूत हो गया। उसने अपनी विकुर्वणा (वैक्रिय माया) समेट ली। मुनि को वंदन नमस्कार कर क्षमायाचना करता हुआ देवलोक में हुई चर्चा को प्रस्तुत किया। फिर कहा महाभाग! आपको क्या वर दूँ। मुनि ने कहा–मैंने महादुर्लभ जिनधर्म प्राप्त किया है। इससे अधिक महत्व की वस्तु विश्व में अन्य है ही नहीं, जिसकी मैं वांछा करुँ। मुनि का उत्तर सुन देव उनकी स्तुति करता हुआ अपने स्थान को प्रस्थित हो गया। मुनि अपने उपाश्रय में पहुँचे, उनकी आत्मा सेवाधर्म की पवित्रता से अनुप्राणित थी–स्वस्थ और प्रदीप्त एवं देवों के लिए भी वन्दनीय।

स्त्रोत–वसुदेव हिंडी, त्रिष्टिश्लाका पुरुष

सार–सेवाधर्म की गहनता का कोई पार नहीं है।

❖ ❖ ❖

चन्द्रमा का स्वप्न

दान एक श्रेष्ठ आचार कहा गया है। दान, शील, तप और भाव में दान प्रथम क्रम पर है क्योंकि दान, शील का प्रेरक, तप का प्रप्रेरक तथा भाव का उत्प्रेरक होता है। यों तो शुभाशुभ कर्मों का फल आगामी जन्म या जन्मों से प्राप्त होना बताया जाता है, किन्तु कभी-कभी देखा जाता है कि दान जैसे महान सद्‌गुण का सुफल इसी जन्म में प्राप्त हो गया है। मूलदेव नामक राजकुमार को अपनी दानशील वृत्ति का सुफल उसी जन्म में प्राप्त हुआ, जिससे दान की श्रेष्ठ फलदायिनी शक्ति का प्रमाण मिलता है।

एक कृपण मनुष्य एक दिन वसन्तपुर के राजा जितशत्रु के पास पहुँचा और बोला-राजन्, आप अपने राजकुमार मूलदेव की तरफ कोई ध्यान नहीं दे रहे हैं। यदि वे इसी प्रकार करते रहे तो एक दिन सारा राजकोष खाली हो जाएगा तथा यह राज्य संकटग्रस्त बन जाएगा।

क्या कह रहे हो तुम? मेरे राजकुमार में तो ऐसी कोई कुटेव नहीं है कि वह राजकोष का धन बर्बाद कर रहा हो-आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा।

महाराज, कुटेव हो या सुटेव-राजकोष से धन निकलते रहना ही भावी आपत्ति को आमंत्रण देना है। राजकुमार जो जितना मांगे उतना धन दान मांगने वाले को दे देते हैं और इस कारण ज्यादा से ज्यादा लोग उनके पास दान मांगने आ रहे हैं। क्या इसे आप राजकोष को लुटाना नहीं कहेंगे? उस कृपण ने बात को बढ़ा-चढ़ा कर बताई।

जितशत्रु ने भी तब उस बात को बड़ी गम्भीरता से लिया। बड़ी देर तक सोचते रहने पर वे बोले-भाई, तुम्हारी बात अब मेरी समझ में आ गई है और मैं मानता हूँ कि राजकोष से धन यों देते रहना उचित कार्य नहीं है। तुम्हारे सुझाव के लिए धन्यवाद, इस विषय में मैं कुछ न कुछ करुंगा।

राजा के उत्तर को उस कृपण मनुष्य ने अपनी विजय मानी और इसमें भी सन्तोष अनुभव किया कि दान में इस तरह धन लुटाया जाना अब अवश्य बन्द हो जाएगा। वह राजा की जय-जयकार करता हुआ अपने स्थान को लौट गया।

कुंवर मूलदेव को तुरन्त बुलाया गया। राजा ने पूछा-कुंवर, क्या तुम हर किसी को मांगे उतना ही धन

दान में दे रहे हो? इससे क्या तुम राज्य को संकट में नहीं डाल दोगे?

यह आप क्या कह रहे हैं पिताश्री, दान देना तो एक महान सद्‌गुण है। इससे तो पुण्य अर्जित होता है और पुण्यार्जन से राज्य की महिमा बढ़ेगी। उस पर संकट आने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

पुत्र, अभी तुम बालक हो। राज्य द्वारा अर्थ संग्रह में क्या-क्या समस्याएँ आती हैं, यह तुम नहीं जानते। तुम्हारे दान देते रहने से राहकोष खाली होता रहे यह कतई उचित नहीं है। धन लुटाने की इस प्रवृत्ति को तुम्हें रोकना होगा।

तक आप क्या चाहते हैं महाराज? जो आप आज्ञा देंगे, वही मैं करुंगा-एक आज्ञाकारी पुत्र के रूप में मूलदेव ने हाथ जोड़कर पूछा।

अब मेरी आज्ञा है कि जो जितना दान तुमसे मांगे उससे तुम आधा ही दान उसको दोगे, अधिक नहीं-जितशत्रु ने अपने पुत्र को यह आज्ञा दे दी।

पिताजी, अब मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही दान दूंगा-किसी को मुंह मांगा दान नहीं दूंगा-राजकुमार पिता की आज्ञा को अंगीकार करता हुआ वहाँ से चला गया।

राजकुमार मैं चारण हूँ। आपकी दान कीर्ति सुनकर याचना हेतु मैं बहुत दूर देश से आ रहा हूँ। आप मेरी आशा पूर्ति करें।

एक चारण बहुत दूर देश से राजकुमार मूलदेव की सेवा में उपस्थित हुआ। उसके अनुसार कुंवर मूलदेव द्वारा मुँहमांगा दान देने की कीर्ति बहुत दूर-दूर तक फैली हुई थी तथा सब ओर उनकी दानशीलता की जय-जयकार होती थी।

उस समय राजकुमार अपने कक्ष में सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनके गले में बहुमूल्य हीरों का हार पड़ा हुआ था फिर भी उनका मुख मण्डल सरल और सहज दिखाई दे रहा था। उस चारण ने कुंवर की ऐसी अनूठी शैली में प्रस्तुति की कि वे उसकी काव्य शक्ति से सन्तुष्ट हो गए। उस का साधुवाद करते हुए वे बोले-कविराज, जो चाहते हो सो मांगो, मैं तुम्हें वहीं दूंगा, किन्तु अपने पिताश्री की आज्ञा का पालन करते हुए-कहो क्या चाहते हो?

चारण ने याचना की-यदि आप प्रसन्नतापूर्वक देना चाहते हैं तो इस समय आपने अपने गले में जो हार धारण कर रखा है, वही मुझे अर्पण कीजिए।

तब मूलदेव ने अपना हार खोलकर आधा हार उसको दान में देना चाहा तो वह चारण बोल पड़ा-अपने हार को बाराबर दो हिस्सों में विभक्त क्यों कर रहे हैं? मैंने तो आपसे पूरे हार की मांग की है।

ऐसी ही मेरे पिताश्री की आज्ञा है चारण!

कुंवर, यह मैं कुछ नहीं जानता। आप महान

दाता हैं और मैं आपका याचक इतने दूर देश में आपकी महान कीर्ति सुनकर ही तो महीनों पैदल चलकर यहाँ पहुँचा हूँ। क्या मेरे द्वारा सुनी हुई आपकी कीर्तियाँ आधी हो जाएंगी? मैंने आपको इस दृष्टि से हाथी के समान माना है, आप बैल के समान आधे मत बनिए और मुझे मेरा मुँहमांगा दान ही दीजिए-उस चारण ने तो हठ ही पकड़ ली।

सरल हृदय राजकुमार अपनी दानशीलता पर लगे अंकुश को मानकर क्या हठ करते? जो होना होगा सो हो जाएगा, पिताश्री दण्ड देंगे तो झेल लूंगा-ऐसा सोचकर उन्होंने पूरा हार अपने सामने खड़े याचक चारण को उसी समय दान में दे दिया।

चारण उस दान की भूरि-भूरि सराहना करते हुए वहाँ से विदा हुआ।

किन्तु जब राजा को यह संवाद पहुँचा कि राजकुमार ने उसकी आज्ञा भंग करके एक याचक को सवा लाख का हीरों का हार मुँह-मांगे दान के रूप में दे दिया है तो वह क्रुद्ध हो उठा। राजा ने कुंवर को बुलाकर उल्लंघन के लिए बुरी तरह से फटकारा और आदेश दिया-राजकुमार तुम्हें मेरी आज्ञा की अवमानना करने का कठोर दण्ड भुगतना होगा। तुम्हें देश निकाले का दण्ड दिया जाता है। तुम इसी समय यहाँ से निकल जाओ और ध्यान रखो कि इस देश की सीमा में तुम्हें

यहाँ का अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करना है। मेरे आदेश का तुरन्त पालन हो।

राजकुमार ने एक शब्द भी नहीं कहा और प्रणाम करके धीरे-धीरे बाहर निकलते हुए अपने आवास, नगर और राज्य से विदा ली-अपनी दानशीलता का दण्ड भुगतने के लिए।

उस देश से बाहर ले जाने वाले मार्ग पर धनहीन, साधनहीन, एकांकी चल रहा था राजकुमार मूलदेव। चलते हुए वह उज्जयिनी पहुँच गया। उसके रूप सौन्दर्य पर मुग्ध बनी देवदत्ता गणिका ने उसे अपने यहाँ स्थान दे दिया। गणिकाएँ प्रायः धन की प्यासी होती है, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके भी हृदय होता है। वह धन से प्रभावित नहीं होता। वह प्रभावित होता है निश्छल प्रेम से।

राजकुमार के विपत्ति के बादल अभी छंटे नहीं थे। गणिका के यहाँ अचल सेठ भी आया करता था। अभी वह परदेश गया हुआ था। जब तक आया, उसने मूलदेव को देखा, वह उसे वहाँ कैसे सहन कर सकता था? उसने अपने धन बल से मूलदेव को अपमानित कर वहाँ से निकलवा दिया।

चलते हुए उसे मार्ग में एक पुरुष मिला। उससे पूछा तुम कहाँ जाओगे? उसने कहा-बेन्नातट। मैं भी वहीं चल चलता हूँ इसने सोचा एक से भले दो। दाता

से याचक बनकर जिसने कभी भी याचना न की हो, वह भला याचना करे भी कैसे? याचना भी तो एक कला होती है। किसी तरह वे एक साहूकार के यहाँ मात्र कुछ कच्चे उड़द प्राप्त कर सके। उड़द लेकर वे नगर से बाहर गए और आग का प्रबंध करके उड़द बाफने लगे।

तीन दिन तक चलने पर अटवी पार हो गयी। मूलदेव ने तीन दिन से कुछ खाया-पिया नहीं था। साथ वाले के पास खाद्य सामग्री थी पर वह अकेला ही खाता रहा। चौथे दिन जब अटवी पार हो गई तब मूलदेव ने पूछा-पास में कोई गांव है या नहीं। यहाँ से नजदीक ही एक गाँव है, कहता हुआ वह आगे बढ़ गया।

मूलदेव उस गाँव में पहुँचा, उधर उड़द उबल रहे थे और इधर मूलदेव का मन दानशीलता की लहरियों में तैरने लगा। सोचने लगा-इस समय यदि कोई महात्मा या याचक आ जाए और इन उबले हुए उड़दों का हिस्सा दान में लेकर मुझे उपकृत करें तो मेरे हर्ष का ठिकाना न रहे। दान दिए बिना मुझे अपना खाना भला नहीं लगेगा। कोई महाभाग आ ही जाए.....

और उदार हृदय की भावना अवश्य फलीभूत होती है। एक मुनि वन की ओर से उधर ही आ रहे थे। कुंवर ने उमंग एवं विनयपूर्वक अभ्यर्थना की और मुनि का खुला पात्र उनके सामने था। हर्षातिरेक में जब कुंवर बर्तन से उड़द मुनि के पात्र में डालने लगे तो उन्हें कुछ

भी ध्यान नहीं रहा और सारे उड़द पात्र में गिर गए। वे तो आन्तरिक आनन्द में रम गए थे।

मुनि को विदा करके बेन्नानट में पहुँचे, वहाँ पानी पीकर तृप्ति ली और रात हो जाने से वहीं सो गए। वहीं उनके पास ही एक सन्यासी अपने बाल शिष्य के साथ सोया हुआ था। आनन्दानुभूति में राजकुमार को गहरी नींद आ गई। पिछली रात में उन्होंने एक स्वप्न देखा–चन्द्रमा का स्वप्न कि आकाश में पूर्ण चन्द्र चमक रहा है और उसकी शीतल चांदनी में सभी सुख का अनुभव कर रहे हैं। तदनन्तर वे जाग गए, किन्तु सोये–साये ही वे सोचते रहे कि उनके इस स्वप्न का क्या अर्थ हो सकता है?

तभी मूलदेव ने पास में सोये हुए संन्यासी और उसके बाल शिष्य को आपस में धीरे–धीरे बात करते हुए सुना। उनकी बात उन्हें स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

बाल शिष्य बोला–गुरुजी, मैंने अभी–अभी ऐसा स्वप्न देखा कि मुझे बहुत खुशी हो रही है।

संन्यासी ने पूछा–बच्चे, क्या स्वप्न देखा है तुमने?

मैंने देखा कि आकाश में पूरा का पूरा चन्द्रमा उगा हुआ है और उसकी चमकती हुई चांदनी मुझे ही क्या, सबको ही बड़ी सुखकारी लग रही है। इस स्वप्न का मुझे क्या फल मिलेगा, गुरुजी?

संन्यासी ने कुछ देर तक सोचकर कहा–बेटा

तुम्हारा स्वप्न बड़ा उत्तम है। इस स्वप्न के प्रभाव से सवेरे तुम्हें चन्द्रमा के आकार जितने बड़े-बड़े और गोल-गोल मालपुड़े खाने को मिलेंगे।

संन्यासी को स्वप्न फल का ज्ञान तो था नहीं-बस अपने गुरुपने की डीग मार दी। शिष्य बालक था सो सुखी से ताली बजाने लगा कि उसको मालपुड़े खाने को मिलेंगे।

मूलदेव को संन्यासी द्वारा बताया गया कि स्वप्न फल कुछ समझ में नही आया, अतः उन्होंने अपपना स्वप्न उस संन्यासी को बताना उचित नहीं समझा। वे यह भी जानते थे कि अल्पज्ञानी को प्रकट कर देने से स्वप्न का शुभ फल नष्ट हो जाता है, अतः वे उस समय चुप ही रहे।

प्रभातकाल हो जाने पर मूलदेव ने स्वप्न पाठक की खोज की और मिलने पर निवेदन किया-मैंने रात्रि के अन्तिम काल में चन्द्रमा का यह स्वप्न देखा है, कृपा करके बतावें कि इस स्वप्न का मेरे लिए क्या फल होगा?

स्वप्न पाठक ने चन्द्रमा के स्वप्नफल पर गइराई से अध्ययन किया। स्वप्नफल का निर्णय निकल आने पर वे मन ही मन प्रसन्न हो उठे और अपनी ही योजना में तल्लीन हो गए।

मूलदेव स्वप्नपाठक के चेहरे को एकटक देख

रहे थे। बड़ी देर तक उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला तो वे बोले बिना न रह सके-स्वप्नपाठक जी, आप तो कुछ बता ही नहीं रहे हैं। बताइए न, क्या होगा मेरे स्वप्न का फल?

तब स्वप्नपाठक मूलदेव से बोला-स्वप्न में चन्द्रमा देखना अति उत्तम माना गया है। तुमने विगत रात्रि में यह स्वप्न देखा है और सात दिन के भीतर ही भीतर तुम यहाँ के राजा बन जाओगे-यही इस स्वप्न दर्शन का प्रभाव प्रकट होगा।

यह क्या कह रहे हैं आप? मूलदेव ने इस पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं समझा।

मैं जो कह रहा हूँ वह सोलह आने सत्य है-सन्देह के अंश मात्र का भी काम नहीं है। यह तो होकर ही रहना है।

तब मूलदेव के लिए अविश्वास करने की भी कोई स्थिति नहीं रही।

सब ओर, चारों ओर घोषणा की जा रही थी कि यहाँ के राजा का अचानक देहावसान हो गया है किन्तु राजा निःसन्तान है, अतः अन्तिम संस्कार के पहले उत्तराधिकार का निर्णय एवं उसका सिंहासनारोहण आवश्यक है। इसके लिए राज्य सभा ने एक निर्णय लिया है उसे समझने और देखने के लिए नगर के मध्य वाले विशाल प्रांगण में एकत्रित होइए। सुनो, सभी नागरिक सुनो और ध्यान देकर सुनो। अपने नए राजा का

दर्शन एवं अभिनन्दन करने के लिए सभी मध्याह्नोपरान्त बताए गए प्रांगण में अवश्य उपस्थित होवें।....

सभी नागरिक घोषणा सुन रहे थे और शोक एवं हर्ष के मिश्रित भावों के साथ मध्य-प्रांगण की ओर बढ़ रहे थे। मूलदेव भी चले।

प्रांगण के मध्य में एक सुसज्जित हाथी अपनी सूण्ड में एक वृहदाकार पुष्प माला उठाए भीड़ के सामने चारों ओर तेजी से चक्कर लगा रहा था जैसे कि वह बारीही से किसी को खोज रहा हो और वह हकीकत में खोज ही रहा था। ज्योंही मूलदेव भीड़ की अगली पांत में आकर खड़े हुए कि हाथी उनकी ओर लपका और उसने तुरन्त वह पुष्पमाला मूलदेव के गले में डाल दी।

तत्क्षण मूलदेव को वहाँ से ससम्मान ले जाया गया ओर सारी विधियाँ पूरी करके उनका सिंहासनारोहण समारोह सम्पन्न कर दिया गयाँ।

राजकुमार मूलदेव, महाराजा मूलदेव बन गए। सुवाम दान का श्रेष्ठ फल मिलता ही है। कबीर जी ने ठीक ही तो कहा है-**दान दिए धन ना घटे कह गए दास कबीर।**

स्त्रोत-उत्तराध्ययन सूत्र।

सार-देने वाला सदा देव माना जाता है।

❖ ❖ ❖